॥ श्रीहरिः ॥

176

प्रेमी भक्त

(संक्षिप्त भक्त-चरित-माला ८)

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

निबन्ध-सूची

ॐ

प्रेमी भक्त

भक्त बिल्वमंगल

(१)

दक्षिण-प्रदेशमें कृष्णवीणानदीके तटपर एक ग्राममें रामदास नामके भगवद्भक्त ब्राह्मण निवास करते थे। उन्हींके पुत्रका नाम बिल्वमंगल था। पिताने यथासाध्य पुत्रको धर्मशास्त्रोंकी शिक्षा दी थी। बिल्वमंगल पिताकी शिक्षा तथा उनके भक्तिभावके प्रभावसे बाल्यकालमें ही अति शान्त, शिष्ट और श्रद्धावान् हो गया था। परंतु दैवयोगसे पिता-माताके देहावसान होनेपर जबसे घरकी सम्पत्तिपर उसका अधिकार हुआ तभीसे उसके कुसंगी मित्र जुटने लगे। कहा है—

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

(हितोपदेश, प्रस्ताविका १०)

'जवानी, धन, प्रभुत्व और अविवेक—इनमेंसे एक-एकहीसे बड़ा अनर्थ होता है, फिर जहाँ चारों एकत्र हो जायँ वहाँ तो कहना ही क्या है?'

बिल्वमंगलके पास धन था, घरमें दूसरा मालिक नहीं था, जवानीका जोश था ही और कुसंगी मित्रोंके संगमें अविवेकने भी आकर अड्डा जमा लिया। धीरे-धीरे बिल्वमंगलके अन्तःकरणमें अनेक दोषोंने अपना घर कर लिया। एक दिन गाँवमें कहीं चिन्तामणि नामकी वेश्याका नाच था, शौकीनोंके दल-के-दल नाचमें जा रहे थे। बिल्वमंगल भी अपने मित्रोंके साथ वहाँ जा

पहुँचा। वेश्याको देखते ही बिल्वमंगलका मन चंचल हो उठा, विवेकशून्य बुद्धिने सहारा दिया, बिल्वमंगल डूबा और उसने हाड़-मांसभरे चामके कल्पित रूपपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया—तन, मन, धन, कुल, मान, मर्यादा और धर्म—सबको उत्सर्ग कर दिया। ब्राह्मणकुमारका पूरा पतन हुआ। सोते-जागते, उठते-बैठते और खाते-पीते सब समय बिल्वमंगलके चिन्तनकी वस्तु केवल एक 'चिन्ता' ही रह गयी। जरा-सी देरके बुरे संगका यह दुष्परिणाम होता है! वेश्याओंका नाच करानेवाले मौजी लोगो! जरा विचार करो, तुम कितने लोगोंके पतनका पाप अपने सिर लेते हो।

(२)

बिल्वमंगलके पिताका श्राद्ध है, इसलिये आज वह नदीके उस पार चिन्तामणिके घर नहीं जा सकता। श्राद्धकी तैयारी हो रही है। विद्वान् कुलपुरोहित बिल्वमंगलसे श्राद्धके मन्त्रोंकी आवृत्ति करवा रहे हैं, परंतु उसका मन 'चिन्तामणि' की चिन्तामें निमग्न है। उसे कुछ भी अच्छा मालूम नहीं लगता। किसी प्रकार श्राद्ध समाप्तकर जैसे-तैसे ब्राह्मणोंको झटपट भोजन करवाकर बिल्वमंगल चिन्तामणिके घर जानेको तैयार हुआ। सन्ध्या हो चुकी थी, लोगोंने समझाया कि 'भाई! आज तुम्हारे पिताका श्राद्ध है, वेश्याके घर नहीं जाना चाहिये।' परंतु कौन सुनता था? उसका हृदय तो कभीका धर्म-कर्मसे शून्य हो चुका था। बिल्वमंगल दौड़कर नदीके किनारे गया। भगवान्की माया अपार है, अकस्मात् प्रबल वेगसे तूफान आया और उसीके साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी। आकाशमें अन्धकार छा गया, बादलोंकी भयानक गर्जना और बिजलीकी कड़कड़ाहटसे जीवमात्र भयभीत हो गये। रात-दिन नदीमें रहनेवाले केवटोंने भी नावोंको किनारे बाँधकर वृक्षोंका आश्रय लिया, परंतु बिल्वमंगलपर इन

सबका कोई असर नहीं पड़ा। उसने केवटोंसे उस पार ले चलनेको कहा, बार-बार विनती की, उतराईका भी गहरा लालच दिया, परंतु मृत्युका सामना करनेको कौन तैयार होता? सबने इन्कार कर दिया। ज्यों-ज्यों विलम्ब होता था त्यों-ही-त्यों बिल्वमंगलकी व्याकुलता बढ़ती जाती थी। अन्तमें वह अधीर हो उठा और कुछ भी आगा-पीछा न सोचकर तैरकर पार जानेके लिये सहसा नदीमें कूद पड़ा। भयानक दुःसाहसका काम था, परंतु '**कामातुराणां न भयं न लज्जा।**' संयोगवश नदीमें एक मुर्दा बहा जा रहा था। बिल्वमंगल तो बेहोश था, उसने उसे काठ समझा और उसीके सहारे नदीके उस पार चला गया। उसे कपड़ोंकी सुध नहीं है, बिलकुल दिगम्बर हो गया है, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है, बनैले पशु भयानक शब्द कर रहे हैं, कहीं मनुष्यका गन्ध भी नहीं आती, परंतु बिल्वमंगल उन्मत्तकी भाँति अपनी धुनमें चला जा रहा है। कुछ ही दूरपर चिन्तामणिका घर था। श्राद्धके कारण आज बिल्वमंगलके आनेकी बात नहीं थी, अतएव चिन्ता घरके सब दरवाजोंको बंद करके निश्चिन्त होकर सो चुकी थी। बिल्वमंगलने बाहरसे बहुत पुकारा; परंतु तूफानके कारण अन्दर कुछ भी नहीं सुनायी पड़ा। बिल्वमंगलने इधर-उधर ताकते हुए बिजलीके प्रकाशमें दीवालपर एक रस्सा-सा लटकता देखा, परंतु उसने उसे पकड़ा और उसीके सहारे दीवाल फाँदकर अन्दर चला गया। चिन्ताको जगाया। वह तो इसे देखते ही स्तम्भित-सी रह गयी। नंगा बदन, सारा शरीर पानीसे भीगा हुआ, भयानक दुर्गन्ध आ रही है। उसने कहा—'तुम इस भयावनी रातमें नदी पार होकर बंद घरमें कैसे आये?' बिल्वमंगलने काठपर चढ़कर नदी पार होने और रस्सीकी सहायतासे दीवालपर चढ़नेकी कथा सुनायी। वृष्टि थम चुकी थी। चिन्ता दीपक हाथमें लेकर बाहर आयी, देखती है तो दीवालपर भयानक काला नाग लटक रहा है और नदीके तीर सड़ा

मुर्दा पड़ा है। बिल्वमंगलने भी देखा और देखते ही काँप उठा। चिन्ताने भर्त्सना करके कहा कि 'तू ब्राह्मण है? अरे! आज तेरे पिताका श्राद्ध था, परंतु एक हाड़-मांसकी पुतलीपर तू इतना आसक्त हो गया कि अपने सारे धर्म-कर्मको तिलांजलि देकर इस डरावनी रातमें मुर्दे और साँपकी सहायतासे यहाँ दौड़ा आया! तू आज जिसे परम सुन्दर समझकर इस तरह पागल हो रहा है, उसका भी तो एक दिन वही परिणाम होनेवाला है जो तेरी आँखोंके सामने इस सड़े मुर्देका है! धिक्कार है तेरी इस नीच वृत्तिको! अरे! यदि तू इसी प्रकार उस मनमोहन श्याम-सुन्दरपर आसक्त होता—यदि उससे मिलनेके लिये यों छटपटाकर दौड़ता तो अबतक उसको पाकर तू अवश्य ही कृतार्थ हो चुका होता!'

वेश्याकी वाणीने बड़ा काम किया! बिल्वमंगल चुप होकर सोचने लगा। बाल्यकालकी स्मृति उसके मनमें जाग उठी। पिताजीकी भक्ति और उनकी धर्मप्राणताके दृश्य उसकी आँखोंके सामने मूर्तिमान् होकर नाचने लगे। बिल्वमंगलकी हृदयतन्त्री नवीन सुरोंसे बज उठी, विवेककी अग्निका प्रादुर्भाव हुआ, भगवत्-प्रेमका समुद्र उमड़ा और उसकी आँखोंसे अश्रुओंकी अजस्र धारा बहने लगी। बिल्वमंगलने चिन्तामणिके चरण पकड़ लिये और कहा कि 'माता! तूने आज मुझको दिव्यदृष्टि देकर कृतार्थ कर दिया।' मन-ही-मन चिन्तामणिको गुरु मानकर प्रणाम किया और उसी क्षण जगच्चिन्तामणिकी चारु चिन्तामें निमग्न होकर उन्मत्तकी भाँति चिन्ताके घरसे निकल पड़ा। बिल्वमंगलके जीवन-नाटककी यवनिकाका परिवर्तन हो गया।

(३)

'खुल गयी आँखैं अभिलाखैं रूपमाधुरीको,
चाखैं रस-रंग ओ उमंग अंग न्यारिये।

(भक्तमाल)

श्यामसुन्दरकी प्रेममयी मनोहर मूर्तिका दर्शन करनेके लिये बिल्वमंगल पागलकी तरह जगह-जगह भटकने लगा। कई दिनोंके बाद एक दिन अकस्मात् उसे रास्तेमें एक परम रूपवती युवती दीख पड़ी, पूर्व-संस्कार अभी सर्वथा नहीं मिटे थे। युवतीका सुन्दर रूप देखते ही नेत्र चंचल हो उठे और नेत्रोंके साथ ही मन भी खिंचा। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

(२।६०)

'यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ जबरदस्ती हरण कर लेती हैं।'

इसीके अनुसार बिल्वमंगलको भी फिर मोह हुआ। भगवान्को भूलकर वह पुनः पतंग बनकर विषयाग्निकी ओर दौड़ा। बिल्वमंगल युवतीके पीछे-पीछे उसके मकानतक गया। युवती अपने घरके अन्दर चली गयी, बिल्वमंगल उदास होकर घरके दरवाजेपर बैठ गया। घरके मालिकने बाहर आकर देखा कि एक मलिनमुख अतिथि ब्राह्मण बाहर बैठा है। उसने कारण पूछा। बिल्वमंगलने कपट छोड़कर सारी घटना सुना दी और कहा कि 'मैं एक बार फिर उस युवतीको प्राण भरकर देख लेना चाहता हूँ, तुम उसे यहाँ बुलवा दो।' युवती उसी सेठकी धर्मपत्नी थी, सेठने सोचा कि इसमें हानि ही क्या है, यदि उसके देखनेसे ही इसकी तृप्ति होती हो तो अच्छी बात है। अतिथिवत्सल सेठ अपनी पत्नीको बुलानेके लिये अन्दर गया। इधर बिल्वमंगलके मनसमुद्रमें तरह-तरहकी तरंगोंका तूफान उठने लगा।

जो एक बार अनन्यचित्तसे उस अशरण-शरणकी शरणमें चला

जाता है उसके योगक्षेम*का सारा भार वह अपने ऊपर उठा लेता है। आज बिल्वमंगलको सँभालनेकी भी चिन्ता उसीको पड़ी। दीनवत्सल भगवान्‌ने अज्ञानान्ध बिल्वमंगलको दिव्य चक्षु प्रदान किये; उसको अपनी अवस्थाका यथार्थ ज्ञान हुआ, हृदय शोकसे भर गया और न मालूम क्या सोचकर उसने पासके बेलके पेड़से दो काँटे तोड़ लिये। इतनेमें ही सेठकी धर्मपत्नी वहाँ पहुँची, बिल्वमंगलने उसे फिर देखा और मन-ही-मन अपनेको धिक्कार देकर कहने लगा कि 'अभागी आँखें! यदि तुम न होती तो आज मेरा इतना पतन क्यों होता?' इतना कहकर बिल्वमंगलने—चाहे यह उसकी कमजोरी हो या और कुछ—उस समय उन चंचल नेत्रोंको दण्ड देना ही उचित समझा और तत्काल उन दोनों काँटोंको दोनों आँखोंमें भोंक दिया। आँखोंसे रुधिरकी अजस्र धारा बहने लगी। बिल्वमंगल हँसता और नाचता हुआ तुमुल हरिध्वनिसे आकाशको गुँजाने लगा। सेठको और उसकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ, परन्तु वे बेचारे निरुपाय थे। बिल्वमंगलका बचा-खुचा चित्त-मल भी आज नष्ट हो गया और अब तो वह उस अनाथके नाथको अति शीघ्र पानेके लिये बड़ा ही व्याकुल हो उठा, उसके जीवन-नाटकका यह तीसरा पट-परिवर्तन हुआ।

(४)

परम प्रियतम श्रीकृष्णके वियोगकी दारुण व्यथासे उसकी फूटी आँखोंने चौबीसों घण्टे आँसुओंकी झड़ी लगा दी। न भूखका पता है, न प्यासका, न सोनेका ज्ञान है और न जागनेका। 'कृष्ण-कृष्ण' की पुकारसे दिशाओंको गुँजाता हुआ बिल्वमंगल

* भगवत्-प्राप्तिका नाम 'योग' और उसके निमित्त किये हुए साधनोंकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

जंगल-जंगल और गाँव-गाँवमें घूमता है। जिस दीनबन्धुके लिये जान-बूझकर आँखें फोड़ीं, जिस प्रियतमको पानेके लिये ऐश-आरामपर लात मारी, वह मिलनेमें इतना विलम्ब करे, यह भला किसीसे कैसे सहन हो? यदि आजकल-सा कोई स्वार्थी भक्त होता तो वह भगवान्‌को कोसते-कोसते ही पिण्ड न छोड़ता, भक्तिका त्याग तो कभीका कर चुका होता; पर जो सच्चे प्रेमी होते हैं वे प्रेमास्पदके विरहमें जीवनभर रोया करते हैं, सहस्रों आपत्तियोंको सहन करते हैं, परन्तु उसपर दोषारोपण कदापि नहीं करते, उनको अपने प्रेमास्पदमें कभी कोई दोष दीखता ही नहीं।' मेघ जल न बरसाकर पत्थरोंकी वर्षासे चातककी एक-एक पाँखको तोड़ डाले तो भी क्या चातक उसपर नाराज होता है?

बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिऐ चतुर चातकहि चूक॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥

प्रेम जहाँ स्वार्थ और कामनासे कलंकित होता है वहीं प्रेमास्पदमें दोष दीख पड़ते हैं; क्योंकि वहाँपर लेन-देन और माप-तौलका व्यवहार होता है, परन्तु जहाँ निर्मल प्रेमका अगाध समुद्र है वहाँ तो एक प्रेमके अतिरिक्त और किसीका अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसे प्रेमीके लिये प्रेमास्पदको भी कभी चैन नहीं पड़ता। उसे दौड़कर आना ही पड़ता है। आज अन्ध बिल्वमंगल कृष्ण-प्रेममें मतवाला होकर जहाँ-तहाँ भटक रहा है। कहीं गिर पड़ता है, कहीं टकरा जाता है, अन्न-जलका तो कोई ठिकाना ही नहीं। ऐसी दशामें प्रेममय श्रीकृष्ण कैसे निश्चिन्त रह सकते हैं? एक छोटे-से गोप-बालकके वेषमें भगवान् बिल्वमंगलके पास आकर अपनी मुनि-मनमोहिनी मधुर वाणीसे बोले, सूरदासजी!

आपको बड़ी भूख लगी होगी, मैं कुछ मिठाई लाया हूँ, जल भी लाया हूँ, आप इसे ग्रहण कीजिये।' बिल्वमंगलके प्राण तो बालकके उस मधुर स्वरसे ही मोहे जा चुके थे, उसके हाथका दुर्लभ प्रसाद पाकर तो उसका हृदय हर्षके हिलोरोंसे उछल उठा! बिल्वमंगलने बालकसे पूछा, 'भैया! तुम्हारा घर कहाँ है; तुम्हारा नाम क्या है? तुम क्या किया करते हो?'

बालकने कहा, 'मेरा घर पास ही है, मेरा कोई खास नाम नहीं, जो मुझे जिस नामसे पुकारता है, मैं उसीसे बोलता हूँ, गौएँ चराया करता हूँ, मुझसे जो प्रेम करते हैं मैं भी उनसे प्रेम करता हूँ।' बिल्वमंगल बालककी वीणा-विनिन्दित वाणी सुनकर विमुग्ध हो गया! बालक जाते-जाते कह गया कि 'मैं रोज आकर आपको भोजन करवा जाया करूँगा।' बिल्वमंगलने कहा, 'बड़ी अच्छी बात है; तुम रोज आया करो।' बालक चला गया और बिल्वमंगलका मन भी साथ लेता गया। 'मनचोर' तो उसका नाम ही ठहरा! अनेक प्रकारकी सामग्रियोंसे भोग लगाकर भी लोग जिनकी कृपाके लिये तरसा करते हैं, वही कृपासिंधु आज बिल्वमंगलको अपने करकमलोंसे भोजन करवाने जाते हैं। धन्य है! भक्तके लिये भगवान् क्या-क्या नहीं करते?

बिल्वमंगल अबतक यह तो नहीं समझा कि मैंने जिसके लिये फकीरीका बाना लिया और आँखोंमें काँटे चुभाये, वह बालक वही है, परन्तु उस गोप-बालकने उसके हृदयपर इतना अधिकार अवश्य जमा लिया कि उसको दूसरी बातका सुनना भी असह्य हो उठा। एक दिन बिल्वमंगल मन-ही-मन विचार करने लगा कि 'सारी आफतें छोड़कर यहाँतक आया, यहाँ यह नयी आफत आ गयी। स्त्रीके मोहसे छूटा तो इस बालकने मोहमें घेर लिया' यों सोच ही रहा था कि वह रसिक बालक उसके पास आ बैठा और अपनी दीवाना बना

देनेवाली वाणीसे बोला, 'बाबाजी! चुपचाप क्या सोचते हो? वृन्दावन चलोगे?' वृन्दावनका नाम सुनते ही बिल्वमंगलका हृदय हरा हो गया, परन्तु अपनी असमर्थता प्रकट करता हुआ बोला कि 'भैया! मैं अन्धा वृन्दावन कैसे जाऊँ?' बालकने कहा, 'यह लो मेरी लाठी, मैं इसे पकड़े-पकड़े तुम्हारे साथ चलता हूँ।' बिल्वमंगलका मुखड़ा खिल उठा, लाठी पकड़कर भगवान् भक्तके आगे-आगे चलने लगे। धन्य दयालुता! भक्तकी लाठी पकड़कर मार्ग दिखाते हैं। थोड़ी-सी दूर जाकर बालकने कहा, 'लो वृन्दावन आ गया, अब मैं जाता हूँ।' बिल्वमंगलने बालकका हाथ पकड़ लिया, हाथका स्पर्श होते ही सारे शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी; सात्त्विक प्रकाशसे सारे द्वार प्रकाशित हो उठे, बिल्वमंगलने दिव्य दृष्टि पायी और उसने देखा कि बालकके रूपमें साक्षात् मेरे श्यामसुन्दर ही हैं। बिल्वमंगलका शरीर रोमांचित हो गया, आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अनवरत धारा बहने लगी, भगवान्‌का हाथ उसने और भी जोरसे पकड़ लिया और कहा कि अब पहचान लिया है, बहुत दिनोंके बाद पकड़ सका हूँ। प्रभो! अब नहीं छोड़नेका! भगवान्‌ने कहा, 'छोड़ते हो कि नहीं?' बिल्वमंगलने कहा, 'नहीं' कभी नहीं, त्रिकालमें भी नहीं।'

भगवान्‌ने जोरसे झटका देकर हाथ छुड़ा लिया। भला, जिनके बलसे बलान्वित होकर मायाने सारे जगत्‌को पददलित कर रखा है उसके बलके सामने बेचारा अन्धा क्या कर सकता था? परन्तु उसने एक ऐसी रज्जुसे उनको बाँध लिया था कि जिससे छूटकर जाना उनके लिये बड़ी टेढ़ी खीर थी! हाथ छुड़ाते ही बिल्वमंगलने कहा—जाते हो? पर स्मरण रखो!

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयात् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥

हाथ छुड़ाये जात हौ, निर्बल जानिकै मोहिं।
हृदयतें जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोहिं॥

भगवान् नहीं जा सके! जाते भी कैसे? प्रतिज्ञा कर चुके हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४।११)

'जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

भगवान्ने बिल्वमंगलकी आँखोंपर अपना कोमल करकमल फिराया, उसकी आँखें खुल गयीं। नेत्रोंसे प्रत्यक्ष भगवान्को देखकर—उनकी भुवनमोहिनी अनूपरूपराशिके दर्शन पाकर बिल्वमंगल अपने-आपको सँभाल नहीं सका। वह चरणोंमें गिर पड़ा और प्रेमाश्रुओंसे प्रभुके पावन चरणकमलोंको धोने लगा।

भगवान्ने उठाकर उसे अपनी छातीसे लगा लिया। भक्त और भगवान्के मधुर मिलनसे समस्त जगत्में मधुरता छा गयी। देवता पुष्पवृष्टि करने लगे। सन्त-भक्तोंके दल नाचने लगे। हरिनामकी पवित्र ध्वनिसे आकाश परिपूर्ण हो गया। भक्त और भगवान् दोनों धन्य हुए। वेश्या चिन्तामणि, सेठ और उनकी पत्नी भी वहाँ आ गयीं, भक्तके प्रभावसे भगवान्ने उन सबको अपना दिव्य दर्शन देकर कृतार्थ किया।

बिल्वमंगल जीवनभर भक्तिका प्रचारकर भगवान्की महिमा बढ़ाते रहे और अन्तमें गोलोकधाममें पधारे।

'बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!'

भक्त जयदेव

प्रसिद्ध भक्त-कवि जयदेवका जन्म लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व बंगालके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत केन्दुबिल्व नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम भोजदेव और माताका नाम बामादेवी था। ये भोजदेव कान्यकुब्जसे बंगालमें आये हुए पंचब्राह्मणोंमें भरद्वाजगोत्रज श्रीहर्षके वंशज थे। माता-पिता बाल्यकालमें ही जयदेवको अकेला छोड़कर चल बसे थे। ये भगवान्का भजन करते हुए किसी प्रकार अपना निर्वाह करते थे। पूर्व-संस्कार बहुत अच्छे होनेके कारण इन्होंने कष्टमें रहकर भी बहुत अच्छा विद्याभ्यास कर लिया था और सरल प्रेमके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णकी परम कृपाके अधिकारी हो गये थे।

इनके पिताको निरंजन नामक उसी गाँवके एक ब्राह्मणके कुछ रुपये देने थे। निरंजनने जयदेवको संसारसे उदासीन जानकर उनकी भगवद्भक्तिसे अनुचित लाभ उठानेके विचारसे किसी प्रकार उनके घर-द्वार हथियानेका निश्चय किया। उसने एक दस्तावेज बनाया और आकर जयदेवसे कहा—'देख जयदेव! मैं तेरे राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्णको नहीं जानता। या तो अभी मेरे रुपये ब्याजसमेत दे दे, नहीं तो इस दस्तावेजपर सही करके घर-द्वारपर मुझे अपना कब्जा कर लेने दे।'

जयदेव तो सर्वथा निःस्पृह थे। उन्हें घर-द्वारमें रत्तीभर भी ममता नहीं थी, उन्होंने कलम उठाकर उसी क्षण दस्तावेजपर हस्ताक्षर कर दिये। निरंजन कब्जा करनेकी तैयारीसे आया ही था। उसने तुरंत घरपर कब्जा कर लिया। इतनेमें ही निरंजनकी छोटी कन्या दौड़ती हुई अपने घरसे आकर निरंजनसे कहने लगी—'बाबा! जल्दी चलो, घरमें आग लग गयी, सब जल गया।' भक्त जयदेव वहीं थे। उनके

मनमें द्वेष-हिंसाका कहीं लेश भी नहीं था, निरंजनके घरमें आग लगनेकी खबर सुनकर वे भी उसी क्षण दौड़े और जलती हुई लाल-लाल लपटोंके अंदर उसके घरमें घुस गये। जयदेवका घरमें घुसना ही था कि अग्नि वैसे ही अदृश्य हो गयी जैसे जागते ही सपना! भक्तके लिये क्या नहीं हो सकता?

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥

जयदेवकी इस अलौकिक शक्तिको देखते ही निरंजनके नेत्रोंमें जल भर आया। अपनी अपवित्र करनीपर पछताता हुआ निरंजन जयदेवके चरणोंमें गिर पड़ा और दस्तावेजको फाड़कर कहने लगा—'देव! मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने लोभवश थोड़े-से पैसोंके लिये जान-बूझकर बेईमानीसे तुम्हारा घर-द्वार छीन लिया है। आज तुम न होते तो मेरा तमाम घर खाक हो गया होता। धन्य हो तुम! आज मैंने भगवद्भक्तका प्रभाव जाना।'

उसी दिनसे निरंजनका हृदय शुद्ध हो गया और वह जयदेवके संगसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजन-कीर्तनमें समय बिताने लगा।

भगवान्‌की अपने ऊपर इतनी कृपा देखकर जयदेवका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने घर-द्वार छोड़कर पुरुषोत्तमक्षेत्र—पुरी जानेका विचार किया और अपने गाँवके पराशर नामक ब्राह्मणको साथ लेकर वे पुरीकी ओर चल पड़े। भगवान्‌का भजन-कीर्तन करते, मग्न हुए जयदेवजी चलने लगे। पासमें कुछ पाथेय तो था ही नहीं। था तो मुखमें हरिका पवित्र नाम और हृदयमें हरिकी बाँकी झाँकी। एक दिन मार्गमें जयदेवजीको बहुत दूरतक कहीं जल नहीं मिला। बहुत जोरकी गरमी पड़ रही थी, वे प्यासके मारे व्याकुल होकर जमीनपर गिर पड़े। तब भक्तवांछाकल्पतरु हरिने स्वयं गोपालबालकके वेषमें पधारकर जयदेवको कपड़ेसे हवा की और जल तथा मधुर दूध पिलाया। तदनन्तर मार्ग बतलाकर उन्हें शीघ्र ही पुरी पहुँचा दिया।

अवश्य ही भगवान्‌को छद्मवेषमें उस समय जयदेवजी और उनके साथी पराशरने पहचाना नहीं। भगवान् पुरीमें उन्हें पहुँचाकर जब अन्तर्धान हो गये और खोजनेपर भी जब कहीं उनका पता न चला, तब जयदेवजीने उन्हें भगवान् समझा। वे बहुत पछताये, परन्तु अब क्या हो सकता था?

जयदेवजी प्रेममें डूबे हुए सदा श्रीकृष्णका नाम-गान करते रहते थे। एक दिन भावावेशमें अकस्मात् उन्होंने देखा मानो चारों ओर सुनील पर्वतश्रेणी है, नीचे कलकल निनादिनी कालिन्दी बह रही है। यमुनातीरपर कदम्बके नीचे खड़े हुए भगवान् श्रीकृष्ण मुरली हाथमें लिये मुसकरा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही जयदेवजीके मुखसे अकस्मात् यह गीत निकल पड़ा—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

पराशर इस मधुर गानको सुनकर मुग्ध हो गया। बस, यहींसे ललित मधुर 'गीत-गोविन्द' आरम्भ हुआ।

कहा जाता है, यहीं जयदेवजीको भगवान्‌के दशावतारोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उन्होंने '**जय जगदीश हरे**' की टेर लगाकर दसों अवतारोंकी क्रमशः स्तुति गायी। कुछ समय बाद जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ, तब देखा कि यह तो वृन्दावन नहीं है। सामने अनन्त समुद्र है। जयदेवने अनन्त जगत्‌में सर्वत्र फैले हुए विश्वरूप भगवान्‌को पहचानकर उनकी स्तुति की। फिर पराशरको साथ लेकर वे चले भगवान् श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने! भगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर जयदेवजी बहुत प्रसन्न हुए। उनका हृदय आनन्दसे भर गया। वे पुरुषोत्तमक्षेत्रपुरीमें एक विरक्त संन्यासीकी भाँति रहने लगे। उनका कोई नियत स्थान नहीं

था। प्रायः वृक्षके नीचे ही वे रहा करते और भिक्षाद्वारा क्षुधा-निवृत्ति करते। दिन-रात प्रभुका ध्यान, चिन्तन और गुणगान करना ही उनके जीवनका एकमात्र कार्य था।

सुदेव नामक एक भक्त ब्राह्मण पुरीमें रहते थे। उनके कोई संतान नहीं थी। स्त्रीकी इच्छासे सुदेवने भगवान् श्रीजगन्नाथजीसे पुत्रप्राप्तिकी कामना की और कहा कि 'हमारे जो पहली संतान होगी उसे हम आपकी सेवामें अर्पण कर देंगे।' भगवान्‌की कृपासे समयपर उनके एक कन्या पैदा हुई। कन्याका नाम पद्मावती था। जब वह दस-बारह वर्षकी हुई, तब श्रद्धालु माता-पिताने उसे श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया। रातको भगवान् श्रीजगन्नाथजीने स्वप्नमें उन्हें आदेश दिया कि 'पद्मावतीको मैंने ग्रहण कर लिया है। अब मेरी आज्ञासे तुम इसका विवाह पुरीमें आकर रहे हुए मेरे परम भक्त जयदेवके साथ कर दो।'

भगवान्‌का आदेश पाकर ब्राह्मण-दम्पति कन्याको साथ लेकर पेड़-तले बैठे कीर्तन करते हुए जयदेवजीके पास आये और उनको भगवान्‌की आज्ञा सुनायी। जयदेवने बड़े ही आश्चर्य और विषादसे युक्त होकर कहा—'महाराज! मैं गृहत्यागी भिखारी हूँ। मैं विवाह नहीं करना चाहता।' ब्राह्मण-दम्पतिने कहा— 'हमलोग भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन नहीं कर सकते। हम तो इसे आपको दे चुके। जब श्रीजगन्नाथजीने स्वयं उसे आपको देनेकी आज्ञा दी है, तब ऐसा कौन है जो उनकी आज्ञाका उल्लंघन कर सके? वह कन्या आपके पास रही, हमलोग जाते हैं।' जयदेवने उन्हें रोकना चाहा, परन्तु वे नहीं रुके। आखिर जयदेवजीको भगवान्‌का आदेश मानकर पद्मावतीके साथ विवाह करना पड़ा। कुछ दिन बाद गृहस्थ बने हुए जयदेव पतिव्रता पद्मावतीको साथ लेकर अपने गाँव केन्दुबिल्व लौट आये और भगवान् श्रीराधामाधवकी युगल श्रीमूर्ति प्रतिष्ठित करके दोनों उनकी सेवामें प्रवृत्त हो गये।

कुछ समय केन्दुबिल्वमें रहनेके बाद जयदेवजी यात्राको निकले। एक राजाने उनका बड़ा सम्मान करके उन्हें अपने यहाँ रखा और वहाँसे चलते समय इच्छा न रहनेपर भी बहुत-सा धन उन्हें दे दिया। जयदेवजीने कहा—'राजन्! भगवत्प्रेमकी प्राप्ति चाहनेवाले व्यक्तिके लिये धन-रत्न विषके समान है। धन मनुष्यको मदान्ध कर देता है और धनहीनताके कारण लोभ तथा परस्पर राग-द्वेष पैदा हो जाते हैं। इस अनर्थके कारणरूप अर्थको मैं नहीं चाहता। परन्तु राजाने किसी प्रकार भी नहीं माना, तब मन मारकर उन्होंने राजाकी प्रसन्नताके लिये निःस्पृह और निर्मम भावसे कुछ धन साथ ले लिया और वहाँसे वे अपने गाँवको चल पड़े।

सड़े मांसपर सियार-गीध झपटा ही करते हैं। धन देखकर लोभी मनुष्य उसके पीछे हो लेते हैं। कुछ डाकू जयदेवजीके साथ हो लिये। सरलहृदय जयदेवजी भजनमें मस्त चले जा रहे थे। डाकू उनसे धन माँगते तो वे खुशी-खुशी उन्हें दे देते, परन्तु डाकू तो अपनी-सी जानते थे। अपना वश चलते कौन किसीको धन देता है, यही सोचकर डाकुओंने जयदेवको अपने वशमें करनेके लिये युक्ति सोची। लोभ मनुष्यके विवेकको नष्टकर उसे असुर या राक्षस बना देता है। डाकू मनुष्य थे; परन्तु लोभने उन्हें राक्षस बना दिया। उन्होंने पीछेसे आक्रमणकर जयदेवजीको नीचे गिरा दिया और देखते-देखते ही उनके चारों हाथ-पैर काटकर उन्हें एक कुएँमें डाल दिया। अनित्य धनकी गठरीके साथ ही उन्होंने महान् दुःखके कारणरूप भयानक पापकी भारी पोटली भी बाँध ली। अपनी सफलतापर गर्व करते हुए डाकू वहाँसे चल दिये।

भगवत्कृपासे कुएँमें जल बिलकुल नहीं था, इससे जयदेवजी

डूबे नहीं। भगवान्की दयासे उन्हें कहीं चोट भी नहीं आयी—

जाको राखै साइयाँ, मार सकै नहिं कोय।

वे कुएँके अंदर एक सुन्दर शिलाको पाकर उसीपर सुखसे बैठ गये और प्रभुके विधानपर परम प्रसन्न होते हुए उनका नाम-गुण-कीर्तन करने लगे। जयदेवजीने सोचा कि हो-न-हो यह मेरे धन ग्रहण करनेका ही परिणाम है।

थोड़ी देर बाद उधरसे गौड़ेश्वर राजा लक्ष्मणसेनकी सवारी निकली। कुएँमेंसे आदमीकी आवाज आती सुनकर राजाने देखनेकी आज्ञा दी। एक सेवकने जाकर देखा तो मालूम हुआ, कोई मनुष्य सूखे कुएँमें बैठा श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन कर रहा है। राजाकी आज्ञासे उसी क्षण जयदेव बाहर निकाले गये और इलाज करानेके लिये उन्हें साथ लेकर राजा अपनी राजधानी गौड़को लौट आये। श्रीजयदेवजीकी विद्वत्ता और उनके श्रीकृष्णप्रेमका परिचय प्राप्तकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई और उनके लोकोत्तर गुणोंको देख वह उनका भक्त बन गया। राजाने हाथ-पैर काटनेवालोंका नाम-पता और हुलिया पूछा। जयदेवजी नाम-पता तो जानते ही नहीं थे; परन्तु हुलिया भी उन्होंने इसलिये नहीं बतायी कि कहीं राजकर्मचारी उनका पता लगाकर उन्हें तंग न करें। सच्चे भक्त वैरीका भी अमंगल नहीं चाहते। सारे जगत्के जीवोंके साथ उनका मैत्री-भाव होता है, उनकी दृष्टिमें कोई बुरा करनेवाला रहता ही नहीं। अपने अनिष्टमें भी भगवान्की कृपा समझकर उसका स्वागत करते हैं और निमित्त बननेवालेका धन्यवाद करते और उनका भला मनाते हैं। क्षमा तो उनके स्वभावमें भरी रहती है।

चिकित्सासे जयदेवजीके घाव सूख गये। राजाने उन्हें अपनी पंचरत्न-सभाका प्रधान बना दिया और सर्वाध्यक्षताका सारा भार उन्हें सौंप दिया। इसके कुछ दिनों बाद इनकी पत्नी पद्मावती भी श्रीराधामाधवकी

युगल मूर्तिको लेकर पतिके पास चली आयीं। राजा हर तरहसे धनादि देकर जयदेवजीका सम्मान करना चाहते; परन्तु धन-मानके विरागी भक्त जयदेव मामूली खर्चके सिवा कुछ भी नहीं लेते थे। एक दिन राजमहलमें कोई महोत्सव था। उसमें भोजन करनेके लिये हजारों दरिद्र भिक्षुक, अतिथि, ब्राह्मण, साधु आदि आये थे। उन्हींमें साधुवेषधारी वे चारों डाकू भी थे, जिन्होंने जयदेवजीको धनके लोभसे उनके हाथ-पैर काटकर कुएँमें फेंक दिया था।

डाकुओंको क्या पता था कि हमने जिसे मरा समझ लिया था वही यहाँ सर्वाध्यक्ष है। डाकुओंने दूरसे ही जयदेवजीको देखा और लूले-लँगड़े देखकर उन्हें तुरंत पहचान लिया। वे डरकर भागनेका मौका देखने लगे। इतनेहीमें श्रीजयदेवजीकी दृष्टि उनपर पड़ी। देखते ही वे वैसे आनन्दमें भर गये जैसे बहुत दिनोंके बिछुड़े बन्धुओंको देखकर बन्धुको आनन्द होता है। जयदेवजीने मनमें सोचा, 'इन्हें धनकी आवश्यकता होगी। राजा मुझसे सदा धन लेनेको कहा करते हैं, आज इन्हें कुछ धन दिलवा दिया जायगा तो बड़ा सन्तोष होगा।' जयदेवजीने राजासे कहा—'मेरे कुछ पुराने मित्र आये हैं, आप चाहें तो इन्हें कुछ धन दे सकते हैं।' कहनेभरकी देर थी। राजाने तुरंत उन्हें अपने पास बुलाया। राजाकी बुलाहट सुनकर उनके प्राण सूख गये, ऐसी दशा हुई कि काटो तो खून न निकले। उन्होंने अपनी तरहसे ही सोचा कि जरूर ब्राह्मणने राजासे हमारी शिकायत की है और अब हमारे प्राण बचने कठिन हैं। मनुष्य अपनी-सी ही सोचता है, वह अपने हृदयकी भावनाके अनुसार ही जगत्‌को देखता है। साधुको सब साधु दीखते हैं और चोरको चोर! शिशु युवती स्त्रीके स्तनोंपर खेलता हुआ भी कामके वश नहीं होता और जवान आदमी अपने मनकी बुरी वासना और कल्पनावश एकान्तमें निर्दोष बातचीत करनेवाले जवान भाई-बहिनोंमें भी पापकी कल्पना कर लेता है।

डाकू डरे हुए लड़खड़ाते-लड़खड़ाते राजाके पासतक पहुँचे। राजाने उन्हें जयदेवजीके मित्र समझकर उनकी बड़ी आवभगत की तथा मनमाना धन-रत्न माँगनेको कहा।

डाकू अचरजके समुद्रमें डूब गये। उनकी समझमें ही कुछ नहीं आया। क्या मारनेवालेको भी कोई मित्र कह सकता है? क्या दुनियामें ऐसा भी कहीं सम्भव है कि अपने खूनी अपराधी मनुष्योंको भी कोई हँसता हुआ धन दिलावे? उन्होंने अपनी कुटिल मतिके अनुसार इसको जयदेवजीकी कोई कुटिल नीति ही समझा और बहुत-सा धन-धान्य माँगकर, लेकर जल्दी-से-जल्दी वहाँसे चलनेकी तैयारीमें लगे। उनके इच्छानुसार आदरपूर्वक खिलाने-पिलानेके बाद वस्त्रालंकारोंसे पुनः सम्मानित करके राजाने और जयदेवजीने प्रेमपूर्वक उनको विदा किया। धनका बोझ ज्यादा हो गया था तथा रास्तेमें सँभालकी भी आवश्यकता थी, इसलिये जयदेवजीने एक अफसरके साथ चार सेवकोंको उनके साथ कर दिया। राहमें अफसरने उनके इतना धन-सम्मान पानेका रहस्य जाननेके लिये उनसे पूछा कि 'भाइयो! आपका निःस्पृह भक्तवर जयदेवजीके साथ क्या सम्बन्ध है, जिससे उन्होंने आपलोगोंको इतनी अपार सम्पत्ति दिलवाकर आपके उपकारका बदला चुकाया है?'

पापबुद्धि डाकुओंने ईश्वरके न्याय और भयको भुलाकर कपटसे कहा—'साहब! तुम्हारा यह अध्यक्ष और हमलोग एक राज्यमें कर्मचारी थे। हमलोग अफसर थे और यह हमारी मातहतीमें काम करता था, इसने एक बार ऐसा कुकर्म किया कि राजाने गुस्सेमें आकर इसका सिर उड़ा देनेकी आज्ञा दे दी। उस समय हमलोगोंने दया करके इसे बचा लिया और इसके हाथ-पैर कटवाकर छोड़ दिया। हम कहीं यह भेद खोल न दें, इसी डरसे इसने हमारा इतना सम्मान किया-कराया है। हमने भी उसका बुरा हो जानेके डरसे कुछ भी नहीं कहा।'

डाकुओंका इतना कहना था कि धड़ामसे धरती फटी और चारों जीते ही उसमें समा गये!

बार-बार भलाई करनेसे दुष्टोंका हृदय भी पलट जाया करता है; परन्तु कोई-कोई ऐसे अति दुष्ट होते हैं जो—

फूलइ फलइ न बेंत जदपि सुधा बरषहिं जलद।

—की भाँति अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ते, अतः उनके लिये दण्डकी ही आवश्यकता होती है। यद्यपि भक्त उन्हें दण्ड नहीं दिलाना चाहता, क्योंकि वह तो किसीको अपना बुरा करनेवाला मानता ही नहीं। जब उसके मनमें कुछ बुरा नहीं जँचता, जब वह प्रत्येक विधानमें प्रभुका मंगलमय हाथ समझकर मंगल ही समझता है, तब किसी बुरा करनेवालेकी तो उसके मनमें कल्पना ही कैसे हो? इसीसे वह बुरा करनेवालेका भी भला करता है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

ऐसी अवस्थामें भगवान्‌को ही दण्डकी व्यवस्था करके दुष्टोंका उद्धार करना पड़ता है। यहाँ भी यही हुआ। पृथ्वी माताने फटकर उनको अपनी गोदमें स्थान दे दिया।

अफसर साहब नौकरोंके सिरपर सारा धन लदवाकर वापस राजधानीको लौट आये और राजासे उन्होंने सारा हाल सुना दिया। राजाने जयदेवजीको बुलाकर चकित मनसे सब बातें सुनायीं, इतनेमें ही राजा यह देखकर आश्चर्य और हर्षमें डूब गया कि जयदेवजीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है और उनके कटे हुए हाथ-पैर उसी क्षण पुनः पूर्ववत् स्वाभाविक हो गये हैं।

राजाने विस्मित होकर बड़े ही कौतूहलसे आग्रहपूर्वक सारा हाल पूछा। जयदेवजीको अब सच्ची घटना सुनानी पड़ी! दयालुहृदय जयदेवजीने कहा—'राजन्! मैं बहुत ही अभागा हूँ, जिसके कारण

उन बेचारोंके प्राण गये। मैंने धनको बुरा समझकर छोड़ दिया था, पुनः राजाके आग्रहसे उसे ग्रहण किया। इसीसे वनमें उन बेचारोंकी बुद्धि लोभवश दूषित हो गयी और उन्होंने धन छीननेके लिये मुझे लूला-लँगड़ा करके कुएँमें डाल दिया। इस प्रकार उन्होंने धनका और धन-ग्रहणका प्रत्यक्ष दोष सिद्धकर मेरे साथ मित्रताका ही बर्ताव किया। मैं उनके उपकारसे दब गया, इसीसे उन्हें आपके पाससे धन दिलवाया। अधिक धन दिलवानेमें मेरा एक हेतु यह भी था—यदि उनकी धनकी कामना पूर्ण हो जायगी तो वे डाकूपनके निर्दय कामको छोड़ देंगे। अवश्य ही मेरे हाथ-पैर किसी भी पूर्वकृत कर्मके फलसे ही कटे थे, वे तो केवल लोभवश निमित्त बने थे। आज अपने ही कारणसे उनकी इस प्रकार अप्राकृतिक मृत्युका समाचार सुनकर मुझे रोना आ रहा है। यदि उनका दोष हो तो भगवान् उन्हें क्षमा करें। पता नहीं, मेरा कौन-सा अपराध था जिससे उन्हें ऐसा कठिन दण्ड भोगना पड़ा। असलमें यह धनका संग ही बुरा है। कितना आश्चर्य है कि मेरे दोष न देखकर भगवान्ने दया करके मेरे हाथ-पैर पुनः पूर्ववत् बना दिये हैं। राजन्! ऐसे मेरे प्यारे श्रीकृष्णको जो नहीं भजता उसके समान अभागा और कौन होगा?'

भक्तप्रवर श्रीजयदेवजीकी वाणी सुनकर राजा चकित हो उनके चरणोंमें लोट गया। भक्तहृदयकी महानताका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्तकर वह उससे अत्यन्त प्रभावित होकर भक्त बन गया।

प्रभावित तो डाकू भी हुए थे, परन्तु केवल प्रभावसे ही काम नहीं चलता। भूमि ठीक हुए बिना बीज अच्छा होनेपर भी प्रायः नहीं उगता। कहीं उगता है तो फल नहीं देता। अस्तु!

जयदेवजीकी पत्नी पद्मावती भी छायाकी भाँति सब प्रकारसे स्वामीका अनुवर्तन करनेवाली थी। भगवान्के प्रति उसका प्रेम भी असीम था। परन्तु वह इस प्रेमका कारण स्वामीको मानकर तन-

मनसे उनकी सेवा किया करती। पातिव्रत-धर्मका महत्त्व वह भलीभाँति जानती थी। जयदेवजी राजपूज्य थे। इससे रानी, राजमाता आदि राजमहलकी महिलाएँ भी उनके घर पद्मावतीजीके पास आकर सत्संगका लाभ उठाया करती थीं। रानी बहुत ही सुशीला, साध्वी, धर्मपरायणा और पतिव्रता थी। परन्तु उसके मनमें कुछ अभिमान था, इससे किसी-किसी समय वह कुछ दुःसाहस कर बैठती थी। एक दिन पद्मावतीके साथ भी वह ऐसा ही दुःसाहसपूर्ण कार्य कर बैठी।

सत्संग हो रहा था। बातों-ही-बातोंमें पद्मावतीने सती-धर्मकी महिमा बतलाते हुए कहा कि 'जो स्त्री स्वामीके मर जानेपर उसके शवके साथ जलकर सती होती है वह तो नीची श्रेणीकी ही सती है। उच्च श्रेणीकी सती तो पतिके मरणका समाचार सुनते ही प्राण त्याग देती है। पतिकी मृत्युका संवाद सुननेपर क्षणभर भी उसके प्राण शरीरमें नहीं रह सकते।' रानीको यह बात नहीं जँची। उसने समझा, पद्मावती अपने सतीत्वका गौरव बढ़ानेके लिये ऐसा कह रही है। मनमें ईर्ष्या जाग उठी, रानी परीक्षा करनेका निश्चयकर बिना कुछ कहे ही महलको लौट गयी। एक समय राजाके साथ जयदेवजी कहीं बाहर गये थे। रानी सुअवसर समझकर दम्भसे विषादयुक्त चेहरा बनाकर पद्मावतीके पास गयी और कपट-रुदन करते-करते कहा कि पण्डितजीको वनमें सिंह खा गया।' उसका इतना कहना ही था कि पद्मावती 'श्रीकृष्ण-कृष्ण' कहकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ी। रानीने चौंककर देखा, तो पद्मावती अचेतन मालूम हुई—परीक्षा करनेपर पता लगा कि पद्मावतीके प्राण-पखेरू शरीरसे उड़ गये हैं। रानीके होश उड़ गये। उसे अपने दुःसाहसपूर्ण कुकृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगी, 'अब मैं महाराजको कैसे मुँह दिखाऊँगी। जब पतिदेव अपने पूज्य गुरु जयदेवजीकी धर्मशीला पत्नीकी मृत्युका कारण मुझको समझेंगे तो उन्हें कितना कष्ट होगा!

जयदेवजीको भी कितना सन्ताप होगा! हा दुर्दैव!' इतनेहीमें जयदेवजी आ पहुँचे। राजाके पास भी मृत्यु-संवाद जा पहुँचा था, वह भी वहीं आ गया। राजाके दुःखका पार नहीं रहा। रानी तो जीते ही मरेके समान हो गयी। सोचने लगी, 'पृथ्वी फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ!' जयदेवजीने रानीकी सखियोंसे सारा हाल जानकर कहा—'रानी-माँसे कह दो, घबड़ायें नहीं। मेरी मृत्युके संवादसे पद्मावतीके प्राण निकल गये तो अब मेरे जीवित यहाँ आ जानेपर उन प्राणोंको वापस भी आना पड़ेगा।' जयदेवजीने मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना की। इस इच्छासे नहीं कि पद्मावतीके शरीरमें उनकी कोई आसक्ति थी, जिससे वे उसे जिलाना चाहते थे; बल्कि इसलिये कि इस कारण पद्मावतीके मरनेसे रानीका संकोच कभी मिटेगा ही नहीं। वह जीवनभर पश्चात्तापकी अग्निमें जलती रहेगी। भगवान्‌ने भक्तकी प्रार्थना सुनी। कीर्तन आरम्भ हो गया। जयदेवजी मस्त होकर गाने लगे। धीरे-धीरे पद्मावतीके शरीरमें प्राणोंका संचार हो आया, देखते-ही-देखते वह उठ बैठी और हरि-ध्वनि करने लगी। रानी आनन्दकी अधिकतासे रो पड़ी। उसने कलंक-भंजन श्रीकृष्णको धन्यवाद दिया और भविष्यमें कभी ऐसा दुःसाहस न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। सब ओर आनन्द छा गया। जयदेवजीकी भक्ति और पद्मावतीके पातिव्रतका सुयश चारों ओर फैल गया।

कुछ समय गौड़में रहनेके बाद पद्मावती और श्रीराधामाधवजीके विग्रहोंको लेकर राजाकी अनुमतिसे जयदेवजी अपने गाँवको लौट आये। यहाँ उनका जीवन श्रीकृष्णके प्रेममें एकदम डूब गया। उसी प्रेमरसमें डूबकर इन्होंने मधुर 'गीत-गोविन्द' की रचना की।

एक दिन श्रीजयदेवजी 'गीत-गोविन्द' की एक कविता लिख रहे थे, परंतु वह पूरी ही नहीं हो पाती थी। पद्मावतीने कहा—'देव! स्नानका समय हो गया है, अब लिखना बन्द करके आप स्नान कर आवें तो

ठीक हो।' जयदेवजीने कहा—'पद्मा! जाता हूँ क्या करूँ, मैंने एक गीत लिखा है; परंतु उसका शेष चरण ठीक नहीं बैठता। तुम भी सुनो—

स्थलकमलगंजनं मम हृदयरंजनं
जनितरतिरंगपरभागम् ।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं
सरसलसदलक्तकरागम् ॥
स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनम्—

इसके बाद क्या लिखूँ, कुछ निश्चय नहीं कर पाता! पद्मावतीने कहा—'इसमें घबड़ानेकी कौन-सी बात है! गंगा-स्नानसे लौटकर शेष चरण लिख लीजियेगा।'

'अच्छा यही सही। ग्रन्थको और कलम-दावातको उठाकर रख दो, मैं स्नान करके आता हूँ।'

जयदेवजी इतना कहकर स्नान करने चले गये। कुछ ही मिनटों बाद जयदेवका वेष धारणकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पधारे और बोले—'पद्मा! जरा 'गीत-गोविन्द' देना।'

पद्मावतीने विस्मित होकर पूछा, 'आप स्नान करने गये थे न? बीचसे ही कैसे लौट आये?'

महामायावी श्रीकृष्णने कहा—'रास्तेमें ही अन्तिम चरण याद आ गया, इसीसे लौट आया।' पद्मावतीने ग्रन्थ और कलम-दावात ला दिये। जयदेव-वेषधारी भगवान्‌ने—

'देहि मे पदपल्लवमुदारम्'

—लिखकर कविताकी पूर्ति कर दी। तदनन्तर पद्मावतीसे जल माँगकर स्नान किया और पूजादिसे निवृत्त होकर भगवान्‌के निवेदन किया हुआ पद्मावतीके हाथसे बना भोजन पाकर पलंगपर लेट गये।

पद्मावती पत्तलमें बचा हुआ प्रसाद पाने लगी। इतनेहीमें स्नान करके जयदेवजी लौट आये। पतिको इस प्रकार आते देखकर

पद्मावती सहम गयी और जयदेव भी अपनी पत्नीको भोजन करते देखकर विस्मित हो गये। जयदेवजीने कहा—'यह क्या पद्मा! आज तुम श्रीमाधवके भोग लगाकर मुझको भोजन कराये बिना ही कैसे जीम रही हो? तुम्हारा ऐसा आचरण तो मैंने कभी नहीं देखा?'

पद्मावतीने कहा—'आप यह क्या कह रहे हैं? आप कविताका शेष चरण लिखनेके लिये रास्तेसे ही लौट आये थे, कविताकी पूर्ति करनेके बाद आप अभी-अभी तो स्नान-पूजन-भोजन करके लेटे थे। इतनी देरमें मैं आपको नहाये हुए-से कैसे देख रही हूँ।' जयदेवजीने जाकर देखा, पलंगपर कोई नहीं लेट रहा है। वे समझ गये कि आज अवश्य ही यह भक्तवत्सलकी कृपा हुई है। फिर कहा—'अच्छा पद्मा! लाओ तो देखें, कविताकी पूर्ति कैसे हुई है।'

पद्मावती ग्रन्थ ले आयी। जयदेवजीने देखकर मन-ही-मन कहा—'यही तो मेरे मनमें था, पर मैं संकोचवश लिख नहीं रहा था।' फिर वे दोनों हाथ उठाकर रोते-रोते पुकारकर कहने लगे—'हे कृष्ण! नन्दनन्दन, हे राधावल्लभ, हे व्रजांगमाधव, हे गोकुलरत्न, हे करुणासिन्धु, हे गोपाल! हे प्राणप्रिय! आज किस अपराधसे इस किंकरको त्यागकर आपने केवल पद्माका मनोरथ पूर्ण किया।' इतना कहकर जयदेवजी पद्मावतीकी पत्तलसे श्रीहरिका प्रसाद उठाकर खाने लगे। पद्मावतीने कितनी ही बार रोककर कहा—'नाथ! आप मेरा उच्छिष्ट क्यों खा रहे हैं। परंतु प्रभु-प्रसादके लोभी भक्त जयदेवने उसकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटनाके बाद उन्होंने 'गीत-गोविन्द' को शीघ्र ही समाप्त कर दिया, तदनन्तर वे उसीको गाते मस्त हुए घूमा करते। वे गाते-गाते जहाँ कहीं जाते, वहीं भक्तका कोमलकान्त गीत सुननेके लिये श्रीनन्दनन्दन छिपे हुए उनके पीछे-पीछे रहते। धन्य प्रभु!

जयदेवजीके गंगा-स्नानका नियम था, परंतु गाँवसे अठारह

कोस दूर होनेके कारण वृद्धावस्थामें उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। इससे कहते हैं, श्रीगंगाजी उसी गाँवमें आकर उनके घरके सामने बहने लगीं और मकर-वाहिनीरूपमें उन्हें गंगाजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिये। उसी समय जयदेवने यह गीत गाया—

देवि सुरेश्वरि भगवति गंगे
त्रिभुवनतारिणि तरलतरंगे।
शंकरमौलिविहारिणि विमले
मम मतिरास्तां तव पदकमले॥
भागीरथि सुखदायिनि मात-
स्तव जलमहिमा निगमे ख्यातः।
नाहं जाने तव महिमानं
पाहि कृपामयि मामज्ञानम्॥ इत्यादि

अन्तकालमें श्रीजयदेवजी अपनी पतिपरायणा पत्नी पद्मावती और भक्त पराशर, निरंजन आदिको साथ लेकर वृन्दावन चले आये और वहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीला देख-देखकर आनन्द लूटते रहे। कहते हैं कि वृन्दावनमें ही दम्पति देह त्यागकर नित्यनिकेतन गोलोक पधार गये।

किसी-किसीका कहना है कि जयदेवजीने अपने ग्राममें शरीर छोड़ा था और उनके घरके पास ही उनका समाधि-मन्दिर बनाया गया।

उनके स्मरणार्थ प्रतिवर्ष माघको संक्रान्तिपर केन्दुबिल्व गाँवमें अब भी मेला लगता है, जिसमें प्रायः लाखसे अधिक नर-नारी एकत्र होते हैं।

'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!'

श्रीरूप-सनातन

गौड़देश बंगालहुते सब ही अधिकारी।
हय गय भवन भँडार विभव भूपति अनुहारी॥
यह सुख अनित बिचारि बास वृन्दाबन कीन्हों।
जथालाभ सन्तोष कुंज करवा मन दीन्हों॥

(भक्तमाल)

(१)

जिस समय किसी ईश्वरोपम महापुरुषका आविर्भाव होता है उस समय उसीके साथ-साथ जगत्‌में कुछ विलक्षण विभूतियाँ भी अवतीर्ण हुआ करती हैं, जो भस्मसे ढकी हुई अग्निकी तरह स्थान-स्थानपर छिपी रहती हैं, परंतु समयपर उक्त महापुरुषका संकेत मिलते ही प्रकाशमें आकर अपना पावन कार्य करने लगती हैं। श्रीरूप और श्रीसनातन ऐसी ही विभूतियोंमें थे। बंगालके नवद्वीप नामक विद्या-केन्द्रमें निमाई पण्डितके नामसे भगवान् श्रीचैतन्यदेवका आविर्भाव हो चुका था, इन्हींकी लोकपावनी लीलाओंमें सहायता करनेके लिये श्रीरूप और श्रीसनातनने जन्मग्रहण किया था।

चार सौ वर्षसे अधिक बीत चुके, बंगालके सिंहासनपर हुसैनशाह नामक एक मुसलमान शासक अधिष्ठित था जो अपनेको बंगालका बादशाह कहता था। बंगालकी राजधानी उस समय राजमहलके समीप बसे हुए गौड़ नामक नगरमें थी (यह गौड़ इस समय नष्ट हो गया है)। यद्यपि बादशाह मुसलमान था, परंतु उसके उच्चपदस्थ कर्मचारी प्रायः हिंदू ही थे। अवश्य ही उन हिंदुओंके आचरण स्वाभाविक ही मुसलमानोंके सदृश हो चले थे। बादशाहके उच्चपदाधिकारियोंमें दक्षिणके दो ब्राह्मण-बन्धु मन्त्रित्वके पदपर प्रतिष्ठित थे। ये अपने देशसे आकर बंगालके रामकेलि नामक

गाँवमें बस गये थे और अपनी विद्या-बुद्धिसे इन्होंने इतना ऊँचा पद प्राप्त कर लिया था। राज्यमें ये दबीर खास और साकर मल्लिकके नामसे प्रसिद्ध थे। ये दोनों पदवियाँ थीं, सनातनका असली नाम 'अमर' और रूपका नाम 'सन्तोष' था। हुसैनशाह इन्हें अपना दाहिना हाथ समझता था। ये बादशाहके प्रत्येक कार्यमें सहायता करते और धनके लोभसे बादशाहके किसी भी अनुचित कार्यका विरोध प्रायः नहीं करते थे। यद्यपि हिंदू-मन्दिरोंके नष्ट करने, गो-वध करने और देशको उजाड़ देने आदिके नृशंस मुसलमानी कामोंमें ये प्रत्यक्षरूपसे भाग नहीं लेते थे, परंतु परोक्षरूपमें इन्हें सभी कुछ करना पड़ता था। वेष-भूषासे ये पूरे मुसलमान प्रतीत होते थे, इनके कार्य भी प्रायः मुसलमानोंके सदृश थे। अर्थके लिये मनुष्य क्या-क्या अनर्थ नहीं करता? दोनों ब्राह्मण-बालक अर्थके लिये ही इतना हीन कार्य करनेमें संकोच नहीं करते थे। इन्होंने प्रचुर धन उपार्जन किया था। रामकेलि ग्राममें ये राजा कहलाते थे। इतना सब होनेपर भी इनका हृदय हिंदू-भावोंसे भरा हुआ था। श्रीराम और श्रीकृष्णके प्रति इनका अनुराग था! ब्राह्मण-साधुओंमें इनकी भक्ति थी। रामकेलि ग्राममें इनके घरपर ब्राह्मण-साधुओंका प्रायः मेला-सा लगा रहता था। धनकी कमी नहीं थी, मनमें उदारता थी, धन बँटता था, अनेक विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण इनके द्वारा हुआ करता था। इस प्रकार कोई भी हिंदू इनसे नाराज नहीं था। इनके छोटे भाई 'अनुपम' घर रहा करते थे और ये दोनों अधिकांश समय बादशाहके पास गौड़में रहते थे।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका नाम सुनकर उनके प्रति स्वाभाविक ही इनकी श्रद्धा हो गयी और उस श्रद्धाने क्रमशः बढ़कर एक प्रकारकी विरह-वेदनाका-सा रूप धारण कर लिया। दोनों भाई श्रीचैतन्यके दर्शनके लिये बड़े उत्कण्ठित हो गये। राजकाजमें समय न मिलनेके

कारण वे नवद्वीप नहीं जा सके; परंतु उनका मन श्रीचैतन्यदेवके पास पहुँच चुका था। उत्कण्ठायुक्त एकाग्र मनका आकर्षण बड़ा ही प्रबल हुआ करता है, जब मनकी ऐसी दशा हो जाती है तब मनोवांछित पदार्थके प्राप्त होनेमें विलम्ब नहीं हुआ करता। भक्तोंका कहना है कि जब उत्कण्ठा प्रबल होती है तब परमात्मा उसे अवश्य पूर्ण करते हैं। हमलोगोंको जो परमात्माके दर्शन नहीं होते इसका कारण यही है कि उनके लिये हमारे मनमें प्रबल उत्कण्ठा नहीं है।

दबीर खास और साकर मल्लिककी तीव्र दर्शनाभिलाषाने श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मनको खींच लिया। प्रेमकी टान बड़ी प्रबल होती है। महाप्रभुसे अब नहीं रहा गया और वे वृन्दावन जानेके बहाने गंगाजीके किनारे-किनारे चलकर गौड़के समीप जा पहुँचे।

महाप्रभुके साथ हजारों भक्त थे, जो रात-दिन प्रेममें मग्न हुए श्रीहरिका नाम-कीर्तन किया करते। हजारों नये स्त्री-पुरुष हरिनामकी गगनभेदी मधुर ध्वनिको सुनकर नित्य दर्शनके लिये आते। इनका दल जिस गाँव और जिस मार्गसे निकलता उसी गाँव और मार्गमें असंख्य जीवोंके मुखसे हरिनामकी तुमुल ध्वनि हुआ करती। हरिनामसे आकाश गूँज उठता, दिशाएँ भर जातीं। इसके अतिरिक्त भक्तोंके 'खोल-करताल' की ध्वनि हरिनामकी ध्वनिके साथ मिल जानेसे किसीको भी दूसरा शब्द सुननेके लिये अवकाश न रह जाता। भक्तोंके उन्मादकारी मधुर नृत्यसे धराकी धूलिका प्रत्येक कण पवित्र हो जाता और आकाशमें उड़कर वह जहाँपर भी पड़ता, वहींसे पाप-ताप दूर भाग जाते।

जब महाप्रभु गौड़के समीप पहुँचे तो उनके दलकी तुमुल हरिध्वनिसे सारा नगर गूँज उठा, बादशाहने कोलाहल सुनकर सोचा कि हो-न-हो आज गौड़पर कोई शत्रु चढ़ आया है। उसे बड़ा भय हुआ। जिसके पास जितना अधिक धन होता है उतना

ही उसे भय भी अधिक हुआ करता है। साधारण लोग भूलसे समझ बैठते हैं कि धनियों और राजाओंको बड़ा सुख है, परंतु उन लोगोंको समय-समयपर जिस भयानक दुःखका अनुभव करना पड़ता है, उसकी साधारण लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। हुसैनशाहने डरकर केशव नामक एक उच्चपदस्थ कर्मचारीको बुलाकर उससे कोलाहलका कारण पूछा। केशवने कहा कि 'जहाँपनाह! डरकी कोई बात नहीं है, एक संन्यासी अपने कुछ शिष्योंको साथ लिये वृन्दावन जा रहे हैं, उन्हींका कोलाहल सुनायी देता है।' बादशाहने सोचा कि इतना कोलाहल 'कुछ शिष्योंका' तो नहीं हो सकता। पता लगाया तो विदित हुआ कि संन्यासीके साथ हजारों मनुष्य चले आ रहे हैं। बादशाहका भय दूर नहीं हुआ, उसने दबीर खास और साकर मल्लिकको बुलाया और उनसे संन्यासीके सम्बन्धमें पूछा। यद्यपि इन दोनों भाइयोंने अबतक महाप्रभुके दर्शन नहीं किये थे; परंतु इनका प्रगाढ़ विश्वास था कि श्रीचैतन्य साक्षात् ईश्वर हैं। उन्होंने अनेक प्रकारसे महाप्रभुके गुणगान करते हुए बादशाहसे कहा कि 'हुजूर! मालूम होता है, साक्षात् भगवान् धराधाममें अवतीर्ण होकर संन्यासीके वेषमें घूम रहे हैं। जिनके अनुग्रहसे आप आज गौड़के बादशाह हैं वही भगवान् आज आपके दरवाजेपर पधारे हैं।'

भगवान्‌की विचित्र लीला है। इस प्रकारके शब्दोंको सुनकर भी हुसैनशाह शान्त बना रहा और उसने बड़ी नम्रतासे कहा—

'मुझे भी कुछ ऐसा ही मालूम होता है। मैं गौड़का बादशाह हूँ। लाखों आदमियोंके मारने-जिलानेका अख्तियार रखता हूँ, लेकिन अगर मैं एक मामूली नौकरको भी एक दिनकी तनख्वाह न दूँ तो वह अपनी रजामन्दीसे मेरी किसी बातको सुनना नहीं

चाहेगा, अगर मैं अपनी फौजको छः महीने तनख्वाह न बाँटूँ तो शायद वही मुझे कत्ल करनेके लिये साजिश करने लगे। ताज्जुबकी बात है कि इस कंगाल फकीरके पास एक कौड़ी न होनेपर भी हजारों आदमी अपना घर-बार छोड़कर और नींद-भूखको भुलाकर गुलाम बने साथ घूम रहे हैं। ईश्वरके सिवा ऐसी ताकत और किसमें हो सकती है?'

बादशाहने तो बड़ी अच्छी बातें कहीं, परंतु उन दोनों भाइयोंके मनमें यह भय बना ही रहा कि कहीं स्वेच्छाचारी मुसलमान बादशाह महाप्रभुके दलको कोई कष्ट न पहुँचा दे। वे चाहते थे कि महाप्रभु यहाँसे शीघ्र ही चले जायँ तो ठीक है। परंतु उनका दर्शन करनेके लिये दोनोंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही थी। इसलिये बाहर-के-बाहर उन्हें लौटाना भी नहीं चाहते थे। महाप्रभु गौड़में आ पहुँचे, वे दर्शन दिये बिना कब लौटनेवाले थे, वे तो आये ही थे दोनों भाइयोंको संसार-कूपसे खींचकर बाहर निकालनेके लिये। रातको दोनों भाई महाप्रभुके दरबारमें पहुँचे। प्रभु अपने प्रियतम परमात्माके प्रेममें समाधिस्थ थे। श्रीनित्यानन्दजीने चेष्टा करके उनकी समाधि भंग करवाकर दोनों भाइयोंका परिचय कराया। दोनों मुँहमें तिनके दबाकर और गलेमें कपड़ा डालकर महाप्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—

'प्रभो! आपने पतित और दीनोंका परित्राण करनेके लिये ही पृथ्वीपर पदार्पण किया है, हम-जैसे दयनीय पतित आपको और कहाँ मिलेंगे; आपने जगाई-मधाईका उद्धार किया, परंतु वे तो अज्ञानसे पाप करते थे। उद्धार तो सबसे पहले हमारा होना चाहिये, क्योंकि हमने तो जान-बूझकर पाप किये हैं, वास्तविक पतित तो हमीं हैं। नाथ! अब आपके सिवा हमें और कहीं ठौर नहीं है।'

धन, जन और पदके बलपर मनुष्य बड़ा अभिमानी बन जाता

है, वह समझता है कि मेरे सदृश जगत्‌में कोई नहीं है। जबतक उसका इस विषय-बलपर भरोसा रहता है, तबतक उसे भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती; परंतु जब वह संसारके समस्त विषयोंका बल छोड़कर एक परमात्माके प्रबल बलपर भरोसा कर लेता है, तब सफलता तत्काल ही उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है।

जबलग गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम।
निर्बल ह्वै बल राम पुकार्‌यो, आये आधे नाम॥

दबीर खास और साकर मल्लिक गौड़के हर्ता-कर्ता-विधाता थे। समस्त बंगालपर एक तरहसे इन्हींका प्रभुत्व था। एक बादशाहको छोड़कर और सभी इनके अधीन थे। इतने बलशालियोंके लिये प्रभुकृपाको प्राप्त करनेका केवल एक ही साधन था और वह था 'दीनता'। उन्होंने उसीको अपनाया और मूर्तिमान् 'दैन्य' बनकर दोनों प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। उन्होंने प्रभुसे जो कुछ कहा सो उनके हृदयकी यथार्थ बात थी। कहीं शब्दछल या अत्युक्ति नहीं थी। वास्तवमें ही वे अपनेको जगत्‌में सबकी अपेक्षा अधिक अभागे और दीन समझते थे। भगवान्‌को यही दीनभाव तो अधिक प्रिय है!

महाप्रभु उनकी निष्कपट दीनता देखकर मुग्ध हो गये, दयासे उनका हृदय द्रवित हो गया। वे बोले—'उठो, दीनताको दूर करो, तुम्हारी इस दीनताको देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है, तुम मुझे बड़े प्रिय हो। मैं यहाँ तुम्हीं दोनों भाइयोंसे मिलने आया हूँ। तुम निश्चिन्त रहो। शीघ्र ही तुमपर श्रीकृष्णकी कृपा होगी। आजसे तुम्हारा नाम 'सनातन' और 'रूप' हुआ।' महाप्रभुके वचन सुनकर सनातन और रूपका हृदय आनन्दसे भर गया और वे कृतज्ञतापूर्ण दृष्टिसे महाप्रभुके मुख-कमलकी ओर एकटकी लगाकर देखने लगे। उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि ये

साक्षात् भगवान् हैं। वास्तवमें उन्होंने उस समय महाप्रभुमें श्रीकृष्णको देखा था। उनके जीवन-स्रोतकी दिशा सहसा बदल गयी।

इसके बाद महाप्रभुने सनातनके परामर्शसे इतने लोगोंको साथ लेकर वृन्दावन जानेका विचार छोड़ दिया और वापस नीलाचलकी* ओर लौट गये।

इधर रूप-सनातनकी दशा कुछ और ही हो गयी। वैराग्य उमड़ पड़ा। राज्य-वैभव और मन्त्रित्वसे मन हट गया। एक क्षण भी राजकाजमें रहना उनके लिये नरक-यन्त्रणाके समान दुःखदायी हो गया। वे मुसलमान बादशाहके चंगुलसे निकलनेका उपाय सोचने लगे। सनातनकी अनुमतिसे रूप तो छुट्टी लेकर अपने घर रामकेलि चले गये। सनातन बीमारीका बहाना करके डेरेपर ही रहने लगे। रूपने घर पहुँचकर देखा तो उसे चारों ओर दावानल-सा धधकता हुआ दीख पड़ा। जिन विलास-सामग्रियोंको संग्रह करनेके लिये बड़े-बड़े प्रयास किये गये थे, वे ही सामग्रियाँ आज उसको विषके समान प्रतीत होने लगीं, धन-सम्पत्तिका भण्डार श्मशान-सा दीखने लगा और बड़े-बड़े सुन्दर महल शून्य-से मालूम होने लगे। वैराग्यका शुभ-संचार होनेपर यही दशा हुआ करती है। रूपने दो गुप्तचर महाप्रभुके समीप नीलाचल भेज दिये और उन्हें ताकीद कर दी कि महाप्रभुके वृन्दावनकी ओर प्रयाण करते ही शीघ्र लौटकर मुझे सूचना देना। इस बीचमें धन-सम्पत्तिको लुटाकर रूप वृन्दावन जानेकी तैयारी करने लगे। इनके छोटे भाईका नाम अनुपम था; वह पहलेहीसे बड़ा श्रद्धालु था। उसने भी भाईके साथ ही घर छोड़नेकी तैयारी कर ली। रूप-सनातनके कोई सन्तान नहीं थी, अनुपमके जीव नामक एक पुत्र था, उसे थोड़ा-सा धन सौंपकर शेष सारा धन गरीबोंको लुटा दिया गया। इतनेमें समाचार मिला कि सनातनको

* 'नीलाचल' श्रीजगन्नाथक्षेत्रका नाम है, जिसे आजकल 'पुरी' कहते हैं।

बादशाहने कैद कर लिया है। जानी हुई-सी बात थी। रूप और अनुपमने शीघ्र ही चले जानेका विचार किया और गुप्तचरोंके नीलाचलसे लौटते ही महाप्रभुके वृन्दावन-गमनकी बात सुनकर दोनों भाई वृन्दावनको चल दिये। जाते समय एक पत्र सनातनको इस आशयका लिख गये कि 'हमलोग दोनों वृन्दावन जा रहे हैं। किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाकर आप भी शीघ्र आइये, आवश्यक व्ययके लिये दस हजार रुपये मोदीके यहाँ रख दिये गये हैं।'

सर्वदा अमीरी ठाटमें रहनेवाले रूप और अनुपमकी आज कुछ विचित्र ही अवस्था है। उन्होंने सारे वस्त्र और आभूषण उतारकर फेंक दिये हैं, तनपर एक फटी गुदड़ी है और कमरमें एक-एक कौपीन है। भूख-प्यास और नींदकी कुछ भी परवा नहीं है, पासमें एक कौड़ी नहीं है। आज रूप और अनुपम कंगालोंसे भी कंगाल बनकर सब प्रकारका कष्ट सहर्ष सहन करते हुए पैदल चले जा रहे हैं। अपने-आप जो कुछ खानेको मिल जाता है उसीसे उदरपूर्ति कर रातको चाहे जहाँ पड़ रहते हैं। परंतु उनके मनमें कोई दुःख नहीं है, प्रभुके चरणकमलोंकी दर्शन-लालसाने उन्हें पागल बना दिया है। मनमें नयी-नयी उमंगें उठती हैं, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-ही-त्यों उनके उत्साहकी वृद्धि होती है। उद्देश्य एक है, लक्ष्य एक है, आशा एक है और भरोसा एक है और वह है प्रभुके चारुचरणारविन्दकी दर्शन-लालसा।

होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥

चलते-चलते दोनों भाई प्रयाग पहुँचे। वहाँ जाते ही अनायास पता लग गया कि महाप्रभु यहींपर हैं। जहाँपर धुआँ है वहाँ अग्नि अवश्य है—इसी न्यायसे जहाँ लाखों नर-नारी प्रेममें प्रमत्त होकर हरि-नामकी अनवरत और तुमुल ध्वनिसे जगत्‌को पावन कर रहे हों वहीं श्रीचैतन्य महाप्रभु हैं, यह जान लेना चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

गंगा यमुना नापारिल प्रयाग डुबाइते।
प्रभु डुबाइला कृष्ण-प्रेम बन्याते॥

'गंगा और यमुना प्रयागको नहीं डुबा सकीं; परंतु कृष्णप्रेमकी बाढ़से प्रभुने उसे डुबा दिया।' महाप्रभुका तो उद्देश्य ही प्रेमके प्लावनमें जगत्को बहा देना था।

दोनों भाई महाप्रभुके समीप पहुँचे। महाप्रभु उस समय श्रीविन्दुमाधवजीके दर्शनकर प्रेमावेशमें नाच रहे थे। दोनों भाइयोंने दूरसे ही उस अद्भुत प्रेम-लीलाका चमत्कार देखा। जब महाप्रभु डेरेपर चले गये, तब मध्याह्नके समय एकान्त समझकर दोनों भाई दाँतों-तले तिनका दबाकर जगत्के बड़े-से-बड़े दीन और कंगालकी तरह काँपते-रोते और पड़ते-उठते महाप्रभुके चरणोंमें जाकर गिर पड़े और दोनों ही प्रेमके आवेशमें मतवाले-से हो गये। कुछ समयके बाद धीरज धरकर बोले—

'हे दीनदयामय! हे पतितपावन!! हे नाथ!!! हम-जैसे पतितोंको तुम्हारे अतिरिक्त और कौन आश्रय देगा?'

महाप्रभुने इससे पूर्व सिर्फ एक दिन रातके समय रूपको देखा था, परंतु अब उसे देखते ही तुरंत पहचानकर महाप्रभु हँसकर बोले—

'उठो! उठो!! रूप!!! दीनता छोड़ दो, तुमलोगोंपर श्रीकृष्णकी अपार कृपा है। तभी तो उन्होंने तुम लोगोंको विषयकूपसे निकाल लिया है। रूप! भगवान्को जितने भक्त प्रिय हैं उतने और कोई नहीं।' भगवान्ने कहा है—

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥

'चारों वेदोंको जाननेवाला भी यदि मेरा भक्त न हो तो वह

मुझे प्रिय नहीं है, परंतु मेरा भक्त चाण्डाल भी मुझे प्रिय है, मैं उसको अपना प्रेम देता हूँ और उससे प्रेम ग्रहण करता हूँ। जगत्में जिस प्रकार मैं सबका पूज्य हूँ, इसी प्रकार मेरा भक्त भी है।' इस श्लोकको पढ़कर महाप्रभुने प्रेमसे अश्रुपात करते हुए दोनों बन्धुओंको बलपूर्वक अपनी छातीसे लगा लिया और अपने पास बैठाकर समस्त वृत्तान्त पूछने लगे। रूपने कहा—

'प्रभो! सुना है कि सनातनको बादशाहने कैद कर लिया है।' प्रभु बोले—'घबड़ाओ मत! सनातन कैदसे छूट गया है और मेरे समीप आ रहा है।' रूप और अनुपम उस दिन महाप्रभुके पास ही रहे और वहीं प्रसाद लिया। बल्लभ भट्ट नामक एक वैदिक और याज्ञिक ब्राह्मण महाप्रभुके दर्शन करनेके लिये आया, बहुत देरतक श्रीकृष्ण-प्रेमकी बातें होती रहीं, महाप्रभुने दोनों भाइयोंका उससे परिचय कराया। दोनोंने ही दूरसे ब्राह्मणको साष्टांग प्रणाम किया, भट्टने भी बदलेमें प्रणामकर इन दोनोंसे मिलना चाहा, परंतु वे दोनों दूर हट गये और बोले कि 'महाराज! हम अस्पृश्य हैं, पामर हैं। हमें आप स्पर्श न करें।' यह सुनकर भट्टको बड़ा आश्चर्य हुआ; परंतु भक्तोंकी ऐसी दीनता देखकर महाप्रभु बड़े हर्षित हुए। महाप्रभुने उनका जीवन-वृत्तान्त सुनाकर भट्टसे कहा कि 'आप कुलीन ब्राह्मण हैं और ये जातिसे पतित हैं। इन्हें स्पर्श न कीजिये।' भट्टने कहा—'प्रभो! जिनकी पवित्र जिह्वापर निरन्तर श्रीकृष्णका नाम नृत्य करता है, उनसे उत्तम जगत्में और कौन होगा?' भागवतमें देवी देवहूतिने कहा है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(३। ३३। ७)

'जिसकी जिह्वापर आपका पवित्र नाम वर्तमान है वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है। जो लोग आपका नाम लेते हैं उन्हीं महात्माजनोंने बड़ा तप किया है, हवन किया है, तीर्थ-स्नान किया है और वेदका अध्ययन किया है।'

भट्टके मुखसे इस श्लोकको सुनकर महाप्रभुने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा, ठीक है—

शुचिः सद्भक्तिदीप्ताग्निदग्धदुर्जातिकल्मषः।
श्वपाकोऽपि बुधैः श्लाघ्यो न वेदज्ञोऽपि नास्तिकः॥
भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः।
अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरंजनम्॥

'जिसके हीनजातीय पाप सद्भक्तिरूप प्रदीप्त अग्निसे दग्ध हो चुके हैं वह चाण्डाल भी पण्डितोंके द्वारा सम्मान करनेयोग्य है; परंतु नास्तिक वेदका जाननेवाला होनेपर भी सम्मानके योग्य नहीं है।'

'जैसे प्राणरहित पुतलीकी सजावट केवल लोकरंजनके लिये होती है, उससे कोई फल नहीं होता, वैसे ही भक्तिहीन मनुष्यकी उच्च जाति, उसका शास्त्रज्ञान और उसका जप-तप भी विफल ही होता है।'

इस प्रकार प्रेमालाप करते हुए महाप्रभुने कई दिनोंतक रूप और अनुपमको प्रयागमें अपने पास रखा। रूपके द्वारा प्रभुको बहुत बड़ा कार्य करवाना था, वृन्दावनकी दिव्य प्रेमलीलाको पुनर्जीवन देना था। इसलिये रूपको एकान्तमें रखकर लगातार कई दिनोंतक महाप्रभुने उसको भक्तिका यर्थाथ रहस्य भलीभाँति समझाकर अन्तमें कहा— 'रूप! मैं काशी जाता हूँ।' रूपने दुःखित मनसे कहा—'आपका वियोग मुझसे नहीं सहा जायगा।'

इन वचनोंसे प्रभु कुछ भी नरम नहीं हुए। रूपने फिर कहा— 'प्रभो! आपका साथ छूटनेसे मेरा बचना कठिन है।'

रूपके दुबारा कहनेका भी प्रभुपर कोई प्रभाव न पड़ा, वे रुखाईसे बोले—

'यह क्या? वृन्दावन जाओ, मेरी आज्ञाका पालन करो, काम करो, जीवोंका कल्याण करो। अपने सुखकी आशा छोड़कर वृन्दावन जाओ और इसके बाद यदि इच्छा हो तो मुझसे नीलाचलमें मिलना।' यों कहकर प्रभु वहाँसे चल दिये और रूपचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

'मूर्च्छित हइया रूप रहिला पड़िया'

(मूर्च्छित होकर रूप पड़ा रह गया वहींपर)

प्रायः ऐसी ही दशा वनसे अयोध्याके प्रति लौटते समय भरतकी थी। कठिन कर्तव्य-पालन है!

धैर्य धारणकर प्रभुके आज्ञानुसार रूप अपने छोटे भाई अनुपमके साथ वृन्दावनको चले।

रूप और अनुपम वृन्दावन पहुँचे, वहाँ राजा सुबुद्धिरायसे उनकी भेंट हुई। भगवान्‌की लीला विचित्र है। एक दिन रूप गौड़ाधिपतिके मन्त्री थे और सुबुद्धिराय स्वयं गौड़ाधिपति। हुसैनशाहसे पूर्व सुबुद्धिराय ही गौड़के राजा थे। हुसैन उनके यहाँ नौकरी करते थे। एक बार किसी अपराधमें सुबुद्धिरायने हुसैनकी पीठपर चाबुक मार दी थी। चाबुक जोरसे लगी थी, अतएव उसका चिह्न पीठपर बहुत दिनोंतक बना रहा। कुछ दिनोंके पीछे किसी कौशलसे हुसैनने सुबुद्धिको गद्दीसे उतार दिया और स्वयं गौड़का बादशाह बन गया। अपने नामको हुसैनखाँसे बदलकर उसने हुसैनशाह रख लिया। सुबुद्धिरायके साथ उसने इतनी भलमनसी जरूर की कि उसे जानसे नहीं मारा और आदरसे अपने पास रखा। एक दिन दैवयोगसे हुसैनकी बेगमने अपने स्वामीकी पीठपर चाबुकका दाग देखकर उससे कारण पूछा और

यह जाननेपर कि यह दाग सुबुद्धिकी चाबुकका है, उसे बड़ा क्रोध आया और उसने पतिको लाचारकर जबरदस्ती सुबुद्धिरायके मुखमें अपना जूठा पानी डलवा दिया।

सुबुद्धिरायकी जाति गयी, यद्यपि उसने अपनी इच्छासे मुसलमानका जल नहीं पिया था तथापि समाजने उसके प्रायश्चित्तकी कुछ भी व्यवस्था न कर उसे जातिसे बहिष्कृत कर दिया। राजच्युत गरीबकी कौन सुनता? यदि उसके पास पर्याप्त धन होता तो समाजमें उसे किसी प्रायश्चित्तके सहारे स्थान मिल ही जाता! सुबुद्धिराय समाजच्युत होकर बड़े दु:खित मनसे प्रायश्चित्तके लिये काशी गया और उसने पण्डितोंसे व्यवस्था माँगी। पण्डितोंने कहा कि 'उबलता हुआ घी पीकर प्राण-त्याग कर देना ही इसका एकमात्र प्रायश्चित्त है।' यह सुनकर सुबुद्धिराय सहम गया और उसने इस प्रकार प्राण-त्याग करनेकी अपेक्षा जातिच्युत होकर जीना ही उचित समझा। सुबुद्धिने यद्यपि प्राण नहीं त्यागा, परंतु उसके मनमें निरन्तर ऐसे जीवनसे ग्लानि बनी रहती थी। न मालूम हिंदूजातिके कितने लाल इस प्रकार विधर्मी बननेको बाध्य किये गये हैं!

सुबुद्धिरायने एक बार सुना कि चैतन्यमहाप्रभु नामक एक दीन-जन उद्धारक महापुरुष यहाँ पधारे हैं, वे किसीसे भी घृणा नहीं करते, सभीको प्रेमसे अपनाते हैं। सुबुद्धिरायके ग्लानियुक्त मनमें जरा उत्साह आया और वह दौड़कर उनके पास गया। महाप्रभुके दर्शनकर उनसे अपने लिये प्रायश्चित्तकी व्यवस्था चाही। प्रभुने कहा—**'कृष्णनामैव केवलम्'** 'कृष्णका परम पावन नाम सारे पापोंका प्रायश्चित्त है।' सुबुद्धिराय इस आज्ञाको शिरोधार्य कर वृन्दावन चला गया और वहाँ उसने अपना जीवन श्रीकृष्ण-नामके जपमें लगा दिया। आज उसी कृष्णनाम-परायण सुबुद्धिरायको देखकर रूप और अनुपमको बड़ी प्रसन्नता हुई।

प्रभुकी कृपासे आज गौड़के भूतपूर्व बादशाह और मन्त्री दोनों एक साथ एक ही उद्देश्यसे वृन्दावनमें उपस्थित हैं।

(२)

रूप और अनुपमको वृन्दावन भेजकर महाप्रभु काशी चले गये और वहाँ श्रीचन्द्रशेखरके मकानमें ठहरे। इधर सनातनने गौड़के कारागारमें रूपका पत्र पाकर शीघ्र ही वहाँसे निकलकर महाप्रभुके समीप जानेका विचार कर लिया तथा मौकेसे द्वाररक्षकको कुछ देकर कारागारसे निकल पड़े और सात हजार मुहरें देकर उसीकी सहायतासे रातोंरात गंगाके उस पार चले गये। ईशान नामक एक नौकर इनके साथ था। सनातनके पास इस समय कुछ भी नहीं था। वे एक फटी-सी धोती पहने हुए थे, तथापि खाने-पीने या अन्य किसी वस्तुको साथ लेनेकी कुछ भी परवा न कर वे वृन्दावनकी ओर तीरकी-ज्यों छूटकर चल पड़े। रात-दिन चलते-चलते पातड़ा नामक ग्राममें पहुँचे और वहाँ भौमिकोंकी सहायतासे पहाड़ लाँघकर आगे बढ़े। इनके साथी नौकर ईशानने छिपाकर आठ मुहरें अपने पास रख ली थीं। भौमिकोंने मुहरोंके लोभसे सनातनका बड़ा आदर किया। उनके मनमें पाप था, वे रातको सनातन और ईशानको मारकर मुहर छीनना चाहते थे। धनकी यही महिमा है। जिस प्रकार मांसके टुकड़ेपर मांसाहारी पखेरू परस्परमें लड़-लड़कर मर जाते हैं। इसी प्रकार इस धनरूप मांसके लोभसे मानव-जगत्‌में निरन्तर हिंसामय लड़ाइयाँ हुआ करतीं हैं। चोर-डकैत, दगाबाज, कानूनी और खुशामदियोंकी भरमार वहीं रहती है, जहाँ धन दीखता है। सबका उद्देश्य एक ही रहता है, परंतु उसके साधन भिन्न-भिन्न होते हैं, कोई तुरंत मारकर धन छीन लेता है, तो कोई मीठी-मीठी बातोंमें भुलाकर धोखा देकर धन छीना करते हैं। आज

सनातन और ईशानका भी इसी हेतुसे आदर था। सनातनने मनमें सोचा कि ये लोग मेरा इतना सम्मान क्यों करते हैं, इनको लुभानेकी मेरे पास तो कोई वस्तु नहीं। उनके मनमें सन्देह हुआ और उन्होंने ईशानसे पूछा—

तोमार ठाञि जानी किछु द्रव्य आछ्य।
ईशान कहे, मोर ठाञि सात मोहर हय॥

'मालूम होता है तुम्हारे पास कुछ धन है।' ईशानने एक मुहर छिपाकर कहा—'हाँ, सात मुहरें हैं।' सनातनने कहा— 'भाई! इस पापको अपने पास क्यों रखा, यदि तुम इस समय न बताते तो रातको ये भौमिक बिना मारे न छोड़ते।' उससे सातों मुहरें लेकर सनातनने भौमिकोंको दे दीं, शेष एक मुहरका और पता लगनेपर सनातनने वह मुहर ईशानको देकर उसे वापस देश लौटा दिया, सारा बखेड़ा निपटा। सुखपूर्वक सनातन अकेले ही चलने लगे। सन्ध्याके समय हाजीपुर नामक स्थानमें पहुँचे और एक जगह बैठकर बड़े ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्णके पावन नामका कीर्तन करने लगे। उन्हें सच्ची शान्ति और विश्रान्ति इसीमें मिलती थी। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है।

सनातनके बहनोई श्रीकान्त बहुत दिनोंसे हाजीपुरमें थे। वह गौड़ बादशाहके लिये घोड़े खरीदने आये थे। सन्ध्याका समय था। श्रीकान्त एक तरफ बैठे आराम कर रहे थे। उनके कानोंमें हरिनामकी मीठी आवाज गयी, पहचाना हुआ-सा स्वर था, श्रीकान्त उठकर सनातनके पास आये और देखते ही अवाक् रह गये। उन्होंने सनातन-सम्बन्धी कोई बात नहीं सुनी थी। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने देखा, सनातनका शरीर जीर्ण हो गया है, वह फटी हुई मैली-सी धोती पहने हुए हैं, दाढ़ी बढ़ रही है, मुखपर वैराग्यकी छाया पड़ी हुई है और जोर-जोरसे मतवालेकी भाँति हरिनामका उच्चारण कर रहे हैं।

श्रीकान्तने सनातनको पुकारकर सचेत किया और उनके पास बैठकर इस हालतका कारण पूछा। सनातनने संक्षेपमें सारी कहानी सुना दी। श्रीकान्तने कहा—'ऐसा ठीक नहीं, घर लौट चलो।' सनातनने कहा—'घर ही तो जा रहा हूँ, अबतक घर भूला हुआ था, पराये घरको घर माने हुए था, अब पता लग गया है, इसीलिये तो दौड़ता हूँ। आँखें खुलनेपर स्वप्नके महलोंमें कौन रहता है? जबतक संसारका मायामय घर घर मालूम होता है, तबतक असली घर दूर रहता है। जिसको कभी अपने असली घरका पता लग जाता है, वह तो इसी प्रकार मतवाला होकर दौड़ता है!' श्रीकान्तने समझनेकी बड़ी चेष्टा की, परन्तु समझे हुएको भूला हुआ क्या समझावे। जहाँ वैराग्यका सागर उमड़ा हो, वहाँ विषयरूपी कूड़ेको कहाँ स्थान मिल सकता है? श्रीकान्तकी बातें सनातनके जाग्रत् हृदयको स्पर्श नहीं कर सकीं, ऊपर-ही-ऊपर उड़ गयीं। श्रीकान्तने समझा कि अब यह नहीं मानेंगे। अतएव सनातनके घर लौटनेकी आशा छोड़कर उन्होंने उनके राह-खर्चके लिये कुछ देना चाहा। सनातनने कुछ भी नहीं लिया। गहरा जाड़ा पड़ रहा था, श्रीकान्तने एक बढ़िया दुशाला देना चाहा, सनातनने उसे भी नहीं लिया। यही तो भक्तोंकी, प्रेमके मतवाले संतोंकी विलक्षण अवस्था है। न उन्हें भूखका पता है, न प्यासका, न गरमी सताती है, न जाड़ा।

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः।

(गीता १२। १८)

श्रीकान्त रोने लगे, उनका रोना देखकर सनातनका मन पिघला। भक्त बड़े कोमल-हृदय होते हैं, उनसे दूसरेका दुःख नहीं देखा जाता। अतएव श्रीकान्तके मनको शान्त और सुखी करनेके लिये उन्होंने उनसे एक कम्बल ले लिया और देखते-ही-देखते वहाँसे चल पड़े। श्रीकान्त चुपचाप खड़े रोते रह गये!

सनातनने यह समाचार किसीसे नहीं पूछा कि महाप्रभु कहाँ हैं? क्योंकि सनातनको इस बातका पता था कि सूर्योदय होनेपर वह कभी छिपा नहीं रह सकता। जहाँ प्रभु होंगे, वहाँ लाखों नर-नारी एक कण्ठसे हरिध्वनि करते होंगे। आँधीके दर्शन दूरसे ही हो जाया करते हैं, इसी प्रकार यह हरिनामकी सुखकर आँधी भी दूरसे ही दीख पड़ेगी। महाप्रभु जिस राहसे, जिस गाँवसे और जिस नगरसे जाते थे, सभी जगह अपना एक निशान छोड़ जाते थे, वह था हरिनामकी तुमुल और मत्त-ध्वनि। अतएव सनातनको खोज करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। वे प्रेममें झूमते हुए हरिनाम-परायण लोगोंको महाप्रभुका मार्ग-चिह्न समझकर काशी जा पहुँचे और वहाँ जाकर इसी प्रकार सीधे चन्द्रशेखरके मकानके समीप पहुँच गये। खोज प्रत्यक्ष थी। लाखों नर-नारी मिलकर हरिध्वनि कर रहे थे। सनातनका मन प्रफुल्लित और शरीर पुलकित हो गया। वह धीरे-धीरे जाकर चन्द्रशेखरके दरवाजेपर बैठ गये। महाप्रभु घरके भीतर हैं और सनातन बाहर बैठे हुए प्रभुके श्रीचरणोंका ध्यान कर रहे हैं। अंदर जानेका साहस नहीं होता। अपने पापोंको स्मरण करके मनमें सोचते हैं कि क्या मुझपर भी प्रभुकी कृपा होगी? मुझ-सरीखे घोर नारकी जीवकी ओर क्या प्रभु निहारेंगे? सनातनके मनमें कहींपर भी कपट या दम्भकी गन्धतक नहीं है। सरल और शुद्ध हृदयसे पापोंकी स्मृतिके अनुतापसे दग्ध होते हुए सनातन आज प्रभुकी शरण चाहते हैं। इसी स्थितिमें भगवत्कृपाके दर्शन हुआ करते हैं। जब मनुष्य अपने सारे छल-कपटको छोड़कर अत्यन्त दीनभावसे दीनबन्धु पतितपावन परमात्माकी शरण लेना चाहता है तभी भगवान् हाथ बढ़ाकर उसे अपनी छातीसे लगा लेते हैं और सारे पापोंसे छुड़ाकर उसे सदाके लिये अभय कर देते हैं। काल्पनिक

अनुताप, कृत्रिम दीनता या दम्भपूर्ण स्तुतिसे भगवान् कदापि प्रसन्न नहीं होते, वे झूठेको खूब पहचानते हैं।

सर्वज्ञ महाप्रभुने घरके अंदर बैठे हुए ही इस बातको जान लिया कि बाहर सनातन बैठे हैं। अतएव उन्होंने चन्द्रशेखरसे कहा कि 'दरवाजेपर जो वैष्णव बैठा हुआ है उसे अंदर बुला लाओ।' आज्ञानुसार चन्द्रशेखर बाहर गया और वहाँ किसी वैष्णवको न देखकर वापस लौटकर बोला कि 'बाहर तो कोई वैष्णव नहीं है।' महाप्रभुने कहा—'क्या दरवाजेपर कोई नहीं बैठा है?' चन्द्रशेखरने कहा—'दरवाजेपर एक फकीर-सा तो बैठा है।' महाप्रभुने कहा—'जाओ! उसीको बुला लाओ।' यद्यपि सनातनके कपड़े-लत्ते वैष्णवके-से नहीं थे; परंतु उसका अन्तर तो विष्णुमय था। अन्तरको पहचानना अन्तर्यामीका काम है। यदि कोई भगवान्‌को प्रसन्न करना चाहे तो उसे अन्तरसे यथार्थ वैष्णव बनना चाहिये। भगवान् उसे पहचानकर स्वयं ही अपने पास बुला लेंगे।

चन्द्रशेखर यह सुनकर आश्चर्य करने लगा। सोचने लगा कि आज प्रभु इस फकीरको क्यों बुला रहे हैं, परंतु महाप्रभुके सामने कुछ कहनेका साहस नहीं हुआ और उसने बाहर जाकर सनातनसे कहा— 'आप कौन हैं? आपको प्रभु बुला रहे हैं!' 'प्रभु बुला रहे हैं!' इन शब्दोंने बिजलीका-सा काम किया। सनातनके हृदयमें हर्ष, आशा, चिन्ता, भय, भक्ति और लज्जा आदि अनेक भावोंकी तरंगें उठने लगीं। उन्होंने कहा—'हैं! क्या प्रभु बुलाते हैं? क्या सचमुच ही मुझे बुलाते हैं? आप भूल तो नहीं रहे हैं? भला, प्रभु मुझे क्यों बुलाने लगे? वे और किसीको बुलाते होंगे?' चन्द्रशेखरने कहा—'नहीं, वे आपको ही बुलाते हैं। इसपर भी सनातनका सन्देह दूर नहीं हुआ। सनातन मनमें सोचने लगे कि प्रभुने तो केवल एक बार मुझे देखा था। वे लाखों मनुष्योंको

इस प्रकार देखते हैं, मैं जातिपतित पामर हूँ, प्रभुको मेरी स्मृति क्यों होगी? स्मृति हो, तो भी वे मुझे क्यों बुलाने लगे' यों विचारकर सनातनने चन्द्रशेखरसे कहा—'महाराज! आप भूलते हैं, आप अंदर जाकर फिर पूछिये, प्रभु किसको बुलाते हैं? सनातनने फिर सोचा कि 'अपने आनेकी खबर तो प्रभुको मैंने दी ही नहीं, वे मुझे बुलाते कैसे?'

इस प्रकार सनातनकी विचित्र भावाकृति देखकर और उनके प्रलाप सुनकर आश्चर्यमें डूबे हुए चन्द्रशेखरने फिर कहा—'प्रभु आपको ही बुलाते हैं आप अंदर पधारिये।'

सनातनके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ पड़ा, परंतु अपनी स्वाभाविक दीनतासे वे दाँतों-तले तिनका दबाकर अपराधीकी भाँति चुपचाप अंदर जाकर प्रभुके चरणोंमें लकुटकी तरह गिर पड़े। दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगी। सनातन बोले—'प्रभो! मैं पामर हूँ, मैंने आजीवन कामादि षड्विकारोंकी सेवा की है, विषय-भोगको ही सुख माना है, दिन-रात नीचोंके साथ नीच कर्म करनेमें रत रहा हूँ, इस मनुष्य-जन्मको मैंने व्यर्थ ही खो दिया, मुझ-सरीखा पापी, अधम, नीच और कुटिल और कौन होगा? प्रभो! आज तुम्हारे चरणोंकी शरणमें आया हूँ, अपनी स्वाभाविक दयालुताकी तरफ खयालकर मुझे चरणोंमें स्थान दो। इस अधमको इन चरणोंके सिवा और कहाँ आश्रय मिलेगा?'

प्रभु सनातनके इन शब्दोंको नहीं सुन सके, उनका हृदय दयासे द्रवित हो गया। सनातनको जबरदस्ती उठाकर प्रभुने अपनी छातीसे लिपटा लिया। सनातनके नेत्रोंकी अश्रुधारा मानो मन्दाकिनीकी धारा बनकर महाप्रभुके सशरीर चरणको धोने लगी और महाप्रभुके नेत्रोंकी प्रेमाश्रुधारा सनातनके मस्तकको सिंचित कर उसे सहसा पापमुक्त करने लगी। सम्भवतः भगवान् और भक्तके मिलनमें दोनोंके

नेत्रोंकी जो मिली हुई जल-धारा बहती है, वह श्रीगंगाकी पापनाशिनी शक्तिसे किसी प्रकार भी कम नहीं है।

सनातन कहने लगे—'प्रभो! मुझे आप क्यों स्पर्श करते हैं। मेरा यह कलुषित कलेवर आपके स्पर्शयोग्य नहीं है। इस घृणित और दूषित देहको आप स्पर्श न कीजिये।' प्रभुने कहा—'सनातन! दीनता त्याग करो'—

'तोर दैन्ये फाटे मोर बुक।
कृष्ण जे दयाल हय, भाल मन्द ना गणाय
हइल जे तोमार सन्मुख॥
कृष्ण-कृपा तोमा परि, जतेक कहिते नारि
उद्धारिला विषयकूप हते।
निष्पाप तोमार देह, कृष्णभक्ति मति अहो
तोमा स्पर्शि पवित्र हईते॥'

'तुम्हारी दीनता देखकर मेरा कलेजा फटा जाता है, जब श्रीकृष्ण कृपा करते हैं तो भले-बुरेका विचार नहीं करते। श्रीकृष्ण तुम्हारे सम्मुख हुए हैं, तुमपर श्रीकृष्णकी इतनी कृपा है कि उसका वर्णन नहीं हो सकता, तभी तो उन्होंने तुम्हें विषयकूपसे निकाल लिया है। तुम्हारा शरीर निष्पाप है; क्योंकि तुम्हारी बुद्धि श्रीकृष्णभक्तिमें लगी हुई है। मैं तो अपनेको पवित्र करनेके लिये ही तुम्हें स्पर्श करता हूँ।' क्योंकि—

'भक्तिबले पार तुमि ब्रह्माण्ड शोधिते'

'तुम अपने भक्ति-बलसे सारे ब्रह्माण्डको पवित्र करनेमें समर्थ हो।'

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १।१३।१०)

युधिष्ठिरने विदुरजीसे कहा था—'हे प्रभो! आप-जैसे भगवद्भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं, पापियोंके द्वारा कलुषित तीर्थोंको आपलोग अपने हृदयमें स्थित गदाधरभगवान्‌के द्वारा पुनः तीर्थत्व प्राप्त करवाते हैं'—

भक्त प्रह्लादने भगवान् नृसिंहदेवसे कहा है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

(श्रीमद्भा० ७। ९। १०)

'धर्म, सत्य, दम, तप, अद्वेष, लज्जा, तितिक्षा, अहिंसा, यज्ञ, दान, धृति और वेदाध्ययन—इन बारह गुणोंसे विभूषित ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके पदारविन्दसे विमुख हो तो जिस चाण्डालका मन, धन, वचन और कर्म श्रीभगवान्‌को समर्पित है, उसे मैं उस ब्राह्मणकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि वह हरिभक्त चाण्डाल कुलभरको पवित्र कर सकता है, परंतु वह बड़े मानवाला ब्राह्मण अपने-आपको भी नहीं कर सकता।'— इन दो श्लोकोंको सुनाकर महाप्रभुने कहा—

'सनातन! तुम हरिभक्त हो, तुम्हें देखनेसे, तुम्हारा स्पर्श करनेसे और तुम्हारे गुणगानसे शरीर पवित्र होता है'—

अक्ष्णोः फलं त्वादृशदर्शनं हि
तन्वा फलं त्वादृशगात्रसंगः।
जिह्वाफलं त्वादृशकीर्तनं हि
सुदुर्लभा भागवता हि लोके॥

(हरिभक्तिसुधोदय १३। २)

'तुम-जैसे भक्तोंके दर्शनमें ही आँखोंकी सफलता है, तुम-

जैसे भक्तोंके अंगस्पर्शमें ही शरीरकी सफलता है और तुम-जैसे भक्तोंके गुणगानमें ही जीभकी सफलता है। संसारमें भागवतोंके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं।'

यों कहकर महाप्रभुने सनातनके भाग्यकी बड़ी ही प्रशंसा की और कहा कि श्रीकृष्ण-प्रेम होनेपर वास्तवमें ऐसी ही दीनता हुआ करती है। इसके बाद महाप्रभुने सनातनसे उसकी कारामुक्तिके सम्बन्धमें पूछा। सनातनने संक्षेपसे सारी कथा सुना दी।

महाप्रभुने चन्द्रशेखरसे कहा कि 'सनातनका मस्तक मुण्डनकर और इसे स्नान करवाकर नये कपड़े पहना दो।' स्नान कर चुकनेपर जब तपन मिश्र नामक एक भक्त सनातनको नयी धोती देने लगे तब सनातनने कहा—'यदि आप मुझे वस्त्र देना चाहते हैं तो कोई फटा-पुराना कपड़ा दे दीजिये; मुझे नये कपड़ेसे क्या प्रयोजन है।' सनातनका आग्रह देखकर मिश्रने एक पुरानी धोती दे दी और सनातनने फाड़कर उसके दो कौपीन बना लिये। सनातनके इस वैराग्यको देखकर महाप्रभु मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए, परन्तु श्रीकान्तकी दी हुई कम्बल सनातनके कंधेपर इस समय भी पड़ी हुई थी। महाप्रभुने दो-चार बार उसकी ओर देखा, तब सनातनने समझा कि मैंने अबतक यह सुन्दर कम्बल अपने पास रख छोड़ा है, मेरी विषयवासना दूर नहीं हुई है, इसीसे प्रभु बार-बार इसकी ओर ताककर मुझे सावधान कर रहे हैं। सनातनने गंगातटपर जाकर वह कम्बल एक गरीबको दे दिया और बदलेमें उससे फटी गुदड़ी लेकर उसे ओढ़ लिया। जब महाप्रभुने सनातनको गुदड़ी ओढ़े देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि 'सनातन! श्रीकृष्णने तुम्हारे विषय-रोगको आज समूल नष्ट कर दिया है। भला, उत्तम वैद्य रोगका जरा-सा भी शेष क्यों रहने देता है?'

महाप्रभुने सनातनको लगातार दो महीनेतक भक्ति-तत्त्वकी

परमोत्तम शिक्षा देकर उनसे वृन्दावन जानेको कहा और वहाँ रूप-अनुपमके साथ मिलकर श्रीकृष्णका कार्य सम्पादन करनेके लिये आदेश दिया।

महाप्रभु तो नीलाचल चले गये और उनकी आज्ञा पाकर सनातन वृन्दावन आये। वृन्दावन आनेपर पता लगा कि उनके भाई रूप और अनुपम दूसरे मार्गसे काशी होते हुए देश चले गये हैं। सनातन सुबुद्धिरायके मकानपर ठहरे। रायने बड़े आदरसे उन्हें अपने समीप रखा, परन्तु वहाँ उनका मन नहीं लगा। जरा-सी भी भोग-सामग्रीके समीप निवास करना उनके लिये असह्य हो गया था, सनातन मकान छोड़कर वनमें एक पेड़के तले रहने लगे। प्रतिदिन जंगलसे लकड़ियाँ लाकर बाजारमें बेचते और उसीसे अपना निर्वाह करते, जो कुछ बचा रहता सो दीन-दुःखियोंको बाँट देते। एक दिन जो बंगालके हर्ता-कर्ता थे, आज वे ही हरिप्रेमकी मादकताके प्रभावसे ऐसे दीन बन गये।

सनातन नित्य यमुना-स्नानको जाते। एक दिन यमुनाके तीरपर उन्हें एक हीरा पड़ा मिला, उन्होंने सोचा कि किसी गरीबको दे देंगे। थोड़ी देर किनारेपर बैठे रहे। जब कोई नहीं आया तो हीरेपर धूल डालकर यमुनामें स्नान करने लगे। इतनेमें एक ब्राह्मणने आकर उनसे कहा कि 'मैंने आज स्वप्नमें देखा है कि आपने मुझे बहुत-सा धन देकर परम ऐश्वर्यशाली बना दिया है, इसीलिये मैं आपके पास दौड़ा आया हूँ।' ब्राह्मणकी बात सुनकर सनातनने कहा कि 'भगवन्! मैं तो अकिंचन हूँ, परन्तु एक हीरा यहाँ धूलमें पड़ा है; सम्भवतः श्रीकृष्णने उसे आपके लिये ही भेजा हो, आप चाहें तो उसे ले जा सकते हैं।' ब्राह्मणको खोजनेपर जब हीरा नहीं मिला, तब सनातनने यमुनाजीसे बाहर निकलकर उसे वह स्थान दिखाकर कहा कि 'महाराज! मैं स्नान कर चुका हूँ, इसलिये अब हीरेको नहीं छूऊँगा,

आप इसे ले जाइये।' ब्राह्मण बहुमूल्य रत्न पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे लेकर अपने घरको चला। चलते-चलते उसने अपने मनमें सोचा कि 'जिस हीरेको लेकर मैं इतना प्रसन्न हुआ हूँ, उसको सनातनने छुआ भी नहीं। क्या कारण है? क्या सनातनको इससे कोई अधिक मूल्यवान् पदार्थ प्राप्त है, जिसके सामने वह ऐसे हीरेको भी तुच्छ समझता है? यदि ऐसी ही बात है तो फिर मैं भी उसी पदार्थके लिये प्राणोंको क्यों न लगा दूँ।' ब्राह्मणने यह सोचकर हीरेका मोह छोड़ दिया और सनातनके पास आकर उनसे भक्तिका तत्त्व समझा और नवजीवन प्राप्त किया। सच्चे साधुके पवित्र और वैराग्यपूर्ण संगका ऐसा ही प्रभाव है।

कुछ समयतक वृन्दावनमें निवास करके सनातन महाप्रभुसे मिलनेके लिये नीलाचलकी ओर चले। रास्तेमें उन्हें चर्मरोग हो गया। कविराज गोस्वामीने लिखा है कि झारखण्डके दूषित जलपानसे उनको यह रोग हो गया था। जो कुछ भी हो, सनातन रोगाक्रान्त होकर नीलाचल पहुँचे और अपनेको दीन, हीन और पतित मानकर श्रीहरिदासजीके यहाँ ठहर गये। उन्हें रोगकी चिन्ता नहीं थी, इससे तो उन्हें आनन्द होता था; वे समझते थे कि इस रोगकी वजहसे मेरे पास कोई आवेगा नहीं तो मैं भजन निश्चिन्तरूपसे कर सकूँगा। पूर्वकृत पापका फल जितना ही भोगा जायगा उतने ही पाप नष्ट होंगे। इन्हीं सब बातोंको विचारकर सनातन सन्तुष्ट थे, उन्हें इस कोढ़की कोई परवा न थी। श्रीहरिदासजीके यहाँ महाप्रभु रोज जाया करते। उन्होंने जाकर सनातनको देखा, सनातन दूरसे ही चरणोंमें प्रणाम करने लगे। महाप्रभुने दौड़कर उन्हें छातीसे लगाना चाहा, पर सनातन पीछे हट गये और बोले कि 'प्रभो! आप मुझे स्पर्श न करें, मैं अत्यन्त नीच तो हूँ ही, तिसपर मुझे कोढ़ हो गया है, इसलिये

क्षमा करें।' महाप्रभुने कहा—'सनातन! तुम्हारा शरीर मेरे लिये बड़ा ही पवित्र है, तुम श्रीकृष्णके भक्त हो, तुमसे जो घृणा करेगा वही अस्पृश्य है।' यों कहकर महाप्रभुने सनातनको जबरदस्ती छातीसे लिपटा लिया, सनातनके कोढ़का मवाद महाप्रभुके सारे शरीरमें लग गया। महाप्रभुने सनातनसे कहा कि 'तुम्हारे दोनों भाई यहाँ आकर दस महीने रहे थे, इसके बाद रूप तो वापस वृन्दावन लौट गये हैं और अनुपमको यहीं श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो गयी है। छोटे भाईका मरण सुनकर सनातनको खेद हुआ और उसकी भक्ति-भावनाको स्मरण कर सनातन रोने लगे। प्रभुने आश्वासन देकर सनातनसे कहा कि 'तुम यहीं हरिदासजीके पास रहो, तुम दोनोंका ही श्रीकृष्णमें बड़ा प्रेम है, तुम लोगोंपर शीघ्र ही श्रीकृष्ण कृपा करेंगे।'

यों कहकर महाप्रभु चले गये और इसी प्रकार रोज-रोज वहाँ आकर सनातनको आलिंगन करने लगे। सनातनके मनमें इससे बड़ा क्षोभ होता था। अपने शरीरकी मवाद प्रभुके शरीरपर लगते हुए देखकर उन्हें मार्मिक वेदना होती थी, महाप्रभु किसी तरह मानते नहीं। अतएव सनातनने श्रीजगन्नाथजीके रथके चक्रके नीचे दबकर प्राणत्याग करनेका विचार किया। दिव्य ज्ञानसे महाप्रभुको यह बात मालूम हो गयी, उन्होंने सनातनको अपने पास बुलाकर उनसे कहा कि 'सनातन! तुमने जो देह-त्यागका विचार किया है, उसे छोड़ दो, इससे श्रीकृष्ण नहीं मिलेंगे। श्रीकृष्ण-प्राप्तिका उपाय है भक्ति और भजन, तुम तो श्रीकृष्णके अनुरागी भक्त हो। तुम समझते हो कि तुम्हारा यह शरीर घृणाके योग्य है; परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता, मैं संन्यासी हूँ, संन्यासियोंको विष्ठा और चन्दनमें समान ज्ञान होना चाहिये। अतएव मैं तुम्हारे शरीरसे घृणा कैसे कर सकता हूँ, मैं घृणा

करूँगा तो मुझे श्रीकृष्णके सामने अपराधी होना पड़ेगा।' सनातनने कहा— 'प्रभो! पता नहीं आपकी क्या इच्छा है, आप दीनदयालु हैं, इसीलिये मुझसे घृणा नहीं करते। आपका कार्य ही है मुझ-जैसे अधमोंपर कृपा करना। आपका स्वामित्व मुझ-जैसे पतित पामर सेवकोंसे ही है।' महाप्रभु बोले—'सनातन! मैं तुम लोगोंको बालकके समान समझता हूँ, मानो मैं तुम्हारी माता हूँ, क्या माता कभी रोगी सन्तानसे घृणा कर सकती है? क्या बालककी लार माताके सारे शरीरपर नहीं लगती? क्या कभी माताको अपने मैले-कुचैले बालकसे घृणा होती है?'

महाप्रभुके इन वचनोंको सुनकर हरिदासजीने, जो सनातनके साथ आये थे, प्रभुसे कहा कि 'तुम किसपर क्यों कृपा करते हो यह समझना हमारी बुद्धिसे परेकी बात है। उस दिन वासुदेव तुम्हारे पास आया जो बिलकुल अपरिचित था, उसका तो भयानक कुष्ठ तुमने तत्काल ही मिटा दिया और यह तुम्हारा सनातन····।' इतना कहकर आगे हरिदास कुछ भी नहीं बोल सके।

हरिदासके इन शब्दोंसे सनातनको बड़ा संकोच हुआ, महाप्रभुकी शक्ति सनातनसे छिपी नहीं थी, परन्तु सनातन सर्वथा निष्काम और शरीरकी ममतासे शून्य थे, सनातनने कभी इशारेसे भी महाप्रभुसे रोग दूर करनेकी बात नहीं कही थी।

महाप्रभुने कहा—'हरिदासजी! सनातनके शरीरमें इस रोगके होनेसे मेरी परीक्षा हुई है, यदि मैं इस व्याधिको देखकर घृणा करता तो श्रीकृष्णके सामने महान् दोषी बनता। सनातन! तुम दुःख न मानना, मैं तुम्हें इसीलिये आलिंगन करता हूँ कि मुझे ऐसा करनेमें सुख मिलता है। इस वर्ष तुम मेरे पास यहाँ रहो, अगले साल तुम्हें वृन्दावन जाना पड़ेगा।'

पाठक! विचार कीजिये, महाप्रभुने सनातनको इस घृणित

रोगसे मुक्त क्यों नहीं किया? प्रभुने सनातनके द्वारा हम-सरीखे जीवोंको बड़ी शिक्षा दी। प्रथम, कुकर्मका फल भोग करना ही पड़ता है; दूसरे, भक्त कभी नीच नहीं हो सकता, भले वह कोढ़ी हो, वह तो सदा ही पूजनीय है। सनातन-सरीखे कोढ़ीको प्रभु जिस प्रेमसे आलिंगन करते थे क्या हम वैसे किसी भक्त कोढ़ीको कर सकते हैं? तीसरे, भक्तको अत्यन्त दीन होना चाहिये, यद्यपि प्रभु सनातनका अत्यन्त सम्मान करते, परन्तु इससे सनातनको अभिमान नहीं होता, वरं उनकी दीनता दिनोदिन बढ़ती। चौथे, भक्तको भगवान्‌से कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। पाँचवें, दीन-दुःखी कोढ़ी मनुष्य ही तो प्रेमके पात्र हैं। जो दीनों और पीड़ितोंसे प्रेम करते हैं वे ही तो दीनबन्धु भगवान्‌के प्रियपात्र हैं।

भगवान् मंगलमय परमपिता हैं, वे तो अपनी सन्तानपर नित्य दयामय हैं, उनसे कुछ भी माँगना उनकी दयालुतापर अविश्वास करना है, सनातनने कुष्ठकी भयानक पीड़ा सहर्ष सहन की, परन्तु किसी समय भी उनके मनमें यह संकल्प नहीं उठा कि मैं प्रभुसे अपने रोगकी निवृत्तिके लिये कुछ प्रार्थना करूँ। इन्हीं सब बातोंको दिखलानेके लिये समर्थ होनेपर भी उन्होंने केवल दर्शनमात्रसे सनातनके रोगका नाश नहीं किया। जब जगत् सनातनके अतुलनीय निष्कपट, निष्काम प्रेम और उनकी अनुकरणीय दीनतासे परिचित हो गया, बस, उसी समय सनातन रोगमुक्त हो गये। तदनन्तर महाप्रभुने सनातनको वृन्दावन जाकर जीवोंका उद्धार करनेकी अनुमति दी। यद्यपि महाप्रभुको छोड़कर जानेमें सनातनको असीम कष्ट था; परन्तु उनकी आज्ञाका उल्लंघन करना सनातनको उससे भी अधिक कष्टकर प्रतीत हुआ। सनातन वृन्दावन चले गये। रूप भी पहुँच गये। दोनोंने मिलकर वृन्दावनके उद्धारका कार्य किया।

सनातनने '**बृहद्भागवतामृत**', '**हरिभक्तिविलास**', '**लीलास्तव**', '**स्मरणीय टीका**', '**दिग्दर्शनी टीका**' और श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धपर '**वैष्णवतोषिणी**' नामक टीका बनायी। रूपने '**भक्तिरसामृतसिन्धु**', '**मथुरामाहात्म्य**', '**पदावली**', '**हंसदूत**', '**उद्धवसन्देश**', '**अष्टादशकच्छन्द**', '**स्तवमाला**', '**उत्कलिकावली**', '**प्रेमेन्दुसागर**', '**नाटकचन्द्रिका**', '**लघुभागवततोषिणी**', '**विदग्धमाधव**', '**ललितमाधव**', '**उज्ज्वलनीलमणि**', '**दानकेलिमानिका**' और '**गोविन्दविरुदावली**' आदि अनेक अनुपम ग्रन्थोंकी रचना की। '**विदग्धमाधव**' की रचना वि० संवत् १५८२ में हुई थी। इन सब ग्रन्थोंमें भक्त, भक्ति और श्रीकृष्णतत्त्व आदिका बड़ा विशद वर्णन है। अनुपमके पुत्र जीव भी घर-बार छोड़कर वृन्दावन चले गये थे। उन्होंने भी बड़ा काम किया और अनेक उत्तम-उत्तम ग्रन्थोंकी रचना की।

वृन्दावनसे जब कोई यात्री नीलाचल जाता तो महाप्रभु सबसे पहले बड़े चावसे उससे पूछते—'भाई! मेरे रूप-सनातनका क्या हाल है? वे वहाँ अपना जीवन किस तरह बिता रहे हैं?' वह जवाब देता—'दोनों भाई वृक्षोंके नीचे सोते हैं, भीख माँगकर रूखी-सूखी खाते हैं, फटी लँगोटी पहनते हैं, गुदड़ी और करवा साथ रखते हैं। आठ पहरमें केवल चार घड़ी सोते हैं और शेष सब समय करते हैं श्रीकृष्णका नाम-जप-संकीर्तन और शास्त्रोंका प्रणयन।'

श्रीरूप और सनातन दोनों श्रीवृन्दावनमें ही गोलोकवासी हुए। एक समय जो विद्या, पद, ऐश्वर्य और मानमें मत्त थे वे ही भगवत्कृपासे निरभिमानी, निर्लोभी, वैराग्यवान् और परम प्रेमिक बन गये।

'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!'

यवन हरिदास भक्त

'भगवन्! मुझे मारनेवाले इन भूले हुए जीवोंको अपराधसे मुक्त करो, इनपर क्षमा करो, दया करो!'

(हरिदास)

हरिदासजी यशोहर जिलेके बूड़न गाँवमें एक गरीब मुसलमानके घर पैदा हुए थे। पूर्व-संस्कारवश लड़कपनसे ही हरिदासजीका हरिनामसे अनुराग था। ये घर-द्वार छोड़कर बनग्रामके पास बेनापोलके निर्जन वनमें कुटी बनाकर रहने लगे थे। हरिदासजी बड़े ही क्षमाशील, शान्त, निर्भय और हरिनामके अटल विश्वासी साधु थे। कहते हैं कि हरिदासजी प्रतिदिन तीन लाख हरिनामका जप जोर-जोरसे किया करते थे। जोरसे जप करनेका उनका उद्देश्य यह था कि हरिनाम बड़ी विलक्षण सुधा है; जोरसे जप करनेसे उस सुधाका रस सब सुननेवालोंको भी मिलता है। कितने ही भक्तलोग नित्य हरिदासजीके दर्शनोंके लिये आते थे और उनके चरण छूकर धन्य होते थे। वे सबको हरिनाम लेनेका उपदेश देते थे और कहते थे कि बिना हरिनामके आदमीका उद्धार नहीं हो सकता। शरीर-निर्वाहके लिये वे गाँवसे भीख माँग लाया करते थे। किसी दिन कुछ अधिक मिल जाता तो उसे बालकों या गरीबोंको बाँट देते। दूसरे दिनके लिये संग्रह नहीं रखते। इनके जीवनकी दो-तीन प्रधान घटनाएँ पढ़िये।

एक बार बनग्रामके रामचन्द्रखाँ नामक एक दुष्टहृदय जमींदारने हरिदासजीकी साधना नष्ट करनेके लिये धनका लालच देकर एक सुन्दरी वेश्याको तैयार किया। वेश्या हरिदासजीकी कुटियापर पहुँची, वे नामकीर्तनमें निमग्न थे। हरिदासजीका मनोहर रूप देखकर वेश्याके मनमें भी विकार हो गया और वह निर्लज्जतासे तरह-तरहकी कुचेष्टाएँ करने लगी। हरिदासजी रातभर जप करते रहे, कुछ भी न बोले।

प्रातःकाल उन्होंने कहा, 'नामजप पूरा न होनेसे मैं तुमसे बात न कर सका।'

वेश्या तीन राततक लगातार हरिदासजीकी कुटियापर आकर अनेक तरहकी चेष्टा कर हार गयी। हरिदासजीका नामकीर्तन क्षणभरके लिये भी कभी रुकता नहीं था। चौथे दिन रातको वह हरिदासजीकी कुटीपर आकर देखती है कि हरिदासजी बड़े प्रेमसे नामकीर्तन कर रहे हैं, आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहकर उनके वक्षःस्थलको धो रही है। वेश्या तीन रात हरिनाम सुन चुकी थी, उसका अन्तःकरण बहुत कुछ शुद्ध हो चुका था। उसने सोचा, 'जो मनुष्य इस तरह मुझ-जैसी परम सुन्दरीके प्रलोभनकी कुछ भी परवा न करके हरिनाममें इतना उन्मत्त हो रहा है, वह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। अवश्य ही इसको कोई ऐसा परम सुन्दर पदार्थ प्राप्त है जिसके सामने जगत्‌के सारे रूप तुच्छ हैं।' वेश्याका हृदय बदल गया, फँसाने आयी थी। स्वयं फँस गयी। साधु-अवज्ञाके अनुतापसे रोकर वह हरिदासजीके चरणोंपर गिर पड़ी और बोली, 'स्वामी! मैं महापापिनी हूँ मेरा उद्धार करो।' हरिदासजी उसे हरिनामदानसे कृतार्थकर वहाँसे चल दिये, वेश्या अपना सर्वस्व दीन-दुःखियोंको लुटाकर तपस्विनी बन गयी और उसी कुटियामें रहकर भजन करने लगी। और आगे चलकर वह महान् भक्त हुई। यह साधुसंग और नामश्रवणका प्रत्यक्ष प्रताप है।

इस प्रकार वेश्याका उद्धारकर हरिदासजी शान्तिपुर गये। अद्वैताचार्यजी नामके एक प्रसिद्ध विद्वान् वैष्णव वहाँ रहते थे। उन्होंने हरिदासजीको बड़े प्रेमसे अपने घर ठहराया। दोनोंमें बड़े प्रेमसे हरिचर्चा होने लगी। अद्वैताचार्यजी भागवत आदि ग्रन्थोंको पढ़कर हरिदासजीको सुनाते थे। उन्होंने अपने ग्रामके निकट हरिदासजीके लिये एक गुफा बनवा दी थी। हरिदासजी उसीमें हरिभजन किया

करते थे। केवल दोपहरमें अद्वैताचार्यके घर आकर भोजन कर जाया करते थे।

शान्तिपुरके पास ही फुलिया गाँव है। यह ब्राह्मणोंकी बस्ती है। यद्यपि हरिदासजी यवन थे; किन्तु वे जिस प्रेम और भक्तिसे हरिकी सेवा करते थे उससे सब लोग उनका बड़ा आदर करते थे। वे नित्य गंगास्नान करते और बड़े प्रेमसे हरिनामका उच्चारण करते थे।

उस समय मुसलमानोंका राज्य था। हिन्दुओंको अपने धर्म-विश्वासके अनुकूल आचरण करना कठिन था। ऐसे समयमें हरिदासजीका मुसलमान रहते हुए ही हिंदू-आचरण करना अधिकारियोंको बड़ा खटका। इसलिये गोराई काजीने मुलुकपतिकी अदालतमें नालिश की कि हरिदासको राजदण्ड मिलना चाहिये। अतएव मुलुकपतिके आज्ञानुसार हरिदासजी पकड़कर बुलाये गये और जेलखानेमें डाल दिये गये। उनकी गिरफ्तारीसे फुलियाके लोगोंके हृदयोंमें बड़ी चोट लगी।

वहाँ जेलखानेमें कैदियोंने हरिदासजीके प्रति बड़े भक्ति-भावका परिचय दिया। हरिदासजीने कहा, 'जैसी भगवान्‌की भक्ति तुमने इस समय की है वैसी ही सदा भगवान्‌में बनाये रखो। तुम दो-तीन दिनमें छोड़ दिये जाओगे।' उनकी वाणी सत्य निकली। वे दो-तीन दिन बाद छोड़ दिये गये।

जब हरिदासका मुकदमा लिया गया तो अदालतमें बड़ी भीड़ थी। न्यायाधीशने हरिदासजीका सम्मान करके उनको अच्छी तरह बैठनेके लिये आसन दिया। न्यायाधीशने हरिदासजीसे मधुर शब्दोंमें कहा कि 'आप बड़े भाग्यसे तो मुसलमान हुए, फिर काफिरोंके देवताओंके नाम क्यों लेते हो और उन्हींके-से आचरण क्यों करते हो? मैं तो हिंदूका भोजन भी नहीं करता। इस पापसे मरनेके बाद भी आपका उद्धार नहीं होगा। अब आप

कलमा पढ़ लो तो आपकी रक्षा हो जायगी।' हरिदासजीने विनयपूर्वक उत्तर दिया कि 'हे पूज्य न्यायाधीश! इस संसारका मालिक एक ही है। हिंदू और मुसलमान उसे अलग-अलग नामोंसे पुकारते हैं। मुझे जिस तरह रुचता है उसी तरह मैं ईश्वरकी सेवा करता हूँ। यदि कोई हिंदू मुसलमान हो जाता है तो हिंदू उसपर अत्याचार नहीं करते हैं। मुझे और कुछ नहीं कहना है।'

हरिदासजीकी विनयपूर्ण और ठीक बातें सुनकर सब प्रसन्न हुए। न्यायाधीश मुलुकपति भी प्रसन्न हुए। पर गोराई काजी किसी तरह भी माननेवाला आदमी नहीं था और उसके हृदयमें दयाका लेश भी नहीं था। उसने न्यायाधीशसे कहा कि 'कानूनके अनुसार हरिदासको सख्त सजा होनी चाहिये, नहीं तो इनकी देखा-देखी और मुसलमान भी हिंदू हो जायँगे और इससे इस्लामका बड़ा अहित होगा।' अदालतने हरिदासजीसे कहा कि 'ऐसी दशामें या तो आप हरिनाम जपना छोड़ दें; नहीं तो आपको सख्त सजा भोगनी पड़ेगी।' हरिदासजीने उत्तर दिया कि—

खंड खंड करे देह जदि जाय प्रान।
तबू आमि बदने ना छाड़िब हरिनाम॥

अर्थात् 'हमारी देहके टुकड़े-टुकड़े कर दो, चाहे प्राण भी चले जायँ तब भी हम मुँहसे हरिनामका कहना नहीं छोड़ेंगे।'

यह सुनकर न्यायाधीशने काजीकी सलाहसे उन्हें यह सजा दी कि बाईस बाजारोंमें घुमाकर इनकी पीठपर इतने बेंत लगाये जायँ कि इनके प्राण निकल जायँ। पाषाणहृदय सिपाहियोंने हृदयविदारक दुष्कर्म आरम्भ कर दिया। पर हरिदासजीके मुखसे उफ निकलना तो अलग रहा, वे बड़ी प्रसन्नतासे हरिनाम-कीर्तन करने लगे। सिपाही मारते हुए 'हरि' नाम छोड़नेको कहते। हरिदासजी कहते, एक बार हरिका नाम फिर लो और मुझे मारो। आखिर सिपाहियोंकी

दशापर दयाकर हरिदासजी अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे कि 'हे भगवन्! मुझे ये लोग भूलसे पीट रहे हैं, इन जीवोंको इस अपराधसे मुक्त करो, इनपर क्षमा करो—कृपा करो।' यों कहते-कहते हरिदासजी बेहोश हो गये। उन्हें मरा समझकर सिपाहियोंने काफिरको कब्र देना बे-मुनासिब जान गंगामें बहा दिया। थोड़ी देर बाद हरिदासजी चेतन होकर किनारेपर निकल आये। इस घटनाका न्यायाधीश मुलुकपति और काजी दोनोंपर बड़ा प्रभाव पड़ा और वे भी उनके चरणोंपर गिरकर उनके अनुयायी बन गये और हरिनाम लेने लगे। उनकी सच्ची शुद्धि हो गयी।

एक बार हरिदासजी सप्तग्राममें हिरण्य मजूमदार नामक जमींदारकी सभामें हरिनामका माहात्म्य वर्णन करते हुए कह रहे थे कि 'भक्तिपूर्वक हरिनाम लेनेसे जीवके हृदयमें जो भक्तिप्रेमका संचार होता है वही हरिनाम लेनेका फल है।' इसी बातचीतमें जमींदारके गोपाल चक्रवर्ती नामक एक कर्मचारीने हरिनामकी निन्दा करते हुए कहा कि 'यह सब भावुकताकी बातें हैं। यदि हरिनामसे ही मनुष्यकी नीचता जाती रहे तो मैं अपनी नाक कटवा डालूँ।' हरिदासजीने बड़ी दृढ़तासे कहा—'भाई! हरिनामस्मरण और जपसे यदि मनुष्यको मुक्ति न मिले तो मैं भी अपनी नाक काट डालूँगा।' कहा जाता है कि दो-तीन महीने बाद ही गोपालकी नाक कुष्ठरोगसे गलकर गिर पड़ी। हरि-नाम-निन्दाका फल तो इससे भी बुरा होना चाहिये।

इसी समय चैतन्यमहाप्रभु नवद्वीपमें हरि-नाम-सुधा बरसा रहे थे। हरिदासजी भी वहीं आकर रहने और हरिनाम-कीर्तनका आनन्द लूटने लगे। चैतन्यदेवकी आज्ञासे हरिनामके मतवाले हरिदासजी और श्रीनित्यानन्दजी दोनों नाम-कीर्तन और नृत्य करते हुए नगरमें चारों ओर घूम-फिरकर दिनभर नर-नारियोंको हरि-नाम वितरण करने लगे।

अन्तमें श्रीचैतन्यके संन्यासी होनेके बाद हरिदासजी पुरीमें आकर श्रीचैतन्यकी आज्ञासे काशी मिश्रके बगीचेमें कुटिया बनाकर रहने लगे। वहीं इनकी मृत्यु हुई। मृत्युके समय श्रीचैतन्य-महाप्रभु अपनी भक्तमण्डलीसहित हरिदासजीके पास थे। हरिदासजीके मृत शरीरको उठाकर श्रीचैतन्य नाचने लगे। अन्तमें मृत शरीर एक विमानमें रखा गया। श्रीचैतन्य स्वयं कीर्तन करते हुए आगे-आगे चले। श्रीचैतन्यने हरि-नामकी ध्वनिसे नभमण्डलको निनादित करते हुए अपने हाथों हरिदासके शवको समाधिस्थ किया।

'बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!'

भक्त रघुनाथदास

त्यागका पाठ तो बहुत-से पढ़ते हैं, पर उनमेंसे त्यागी कितने निकलते हैं? सभी जानते हैं कि संसार असार है—सार एकमात्र भगवान् हैं; परन्तु फिर भी प्रायः देखा इसके विपरीत ही जाता है। लोग असार संसारको तो सार समझकर पकड़े हुए हैं और एकमात्र सार—भगवान्को भुलाये हुए हैं। कोई बिरले ही भाग्यवान् महापुरुष होते हैं जिन्हें भगवान्की दयासे सद्बुद्धि प्राप्त हो जाती है और वे सब कुछ त्याग फड़ककर अलग जा खड़े होते हैं। भक्त श्रीरघुनाथदास भी एक ऐसे बड़भागी पुरुष थे। इनका जन्म एक महासमृद्धिशाली घरानेमें हुआ था, पर ये सारे झूठे सुख-वैभवको बता-बताकर सच्चे सुखके खोजी बन गये।

बंगालमें एक स्टेशनका नाम है तीसबीघा। इस तीसबीघाके पास पहले एक सप्तग्राम नामक महासमृद्धिशाली प्रसिद्ध नगर था। इस नगरमें हिरण्यदास और गोवर्धनदास—ये दो प्रसिद्ध धनी महाजन रहते थे। दोनों भाई-भाई ही थे। ये लोग गौड़के तत्कालीन अधिपति सैयद हुसेनशाहका ठेकेपर लगान वसूल किया करते थे और ऐसा करनेमें बारह लाख रुपया सरकारी लगान भर देनेके बाद आठ लाख रुपया इनके पास बच जाता था। आठ लाख वार्षिक आय कम नहीं होती और उसमें भी उन दिनों! उन दिनोंके आठ लाख आजकलके अस्सी लाखके बराबर हैं। खैर, कहनेका मतलब यह कि ऐसे सम्पन्न घरमें रघुनाथदासका जन्म हुआ था और इसके सिवा भी एक बात यह कि हिरण्यदास सन्तानहीन थे और गोवर्धनदासको भी रघुनाथदासको छोड़कर और कोई सन्तान न थी। इस तरह उन दोनों भाइयोंकी आशाके स्थल एकमात्र यही थे।

खायें तो थोड़ा, पीयें तो थोड़ा और उड़ायें तो थोड़ा—इस तरह बड़े लाड़-दुलारके साथ बालक रघुनाथदासका लालन-पालन हुआ। अच्छे-से-अच्छे विद्वान् पढ़ानेको रखे गये। बालक रघुनाथने बड़े चावसे संस्कृत पढ़ना आरम्भ कर दिया और थोड़े ही समयमें उसने पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त कर ली। यही नहीं, भाषाकी शिक्षाके साथ-साथ रघुनाथको उस संजीवनी बूटीका भी स्वाद मिल गया जिसके संयोगसे विद्या वास्तविक विद्या बनती है। वह संजीवनी बूटी है भगवान्की भक्ति। बात यह हुई कि अपने जिन कुलपुरोहित श्रीबलराम आचार्यके यहाँ बालक रघुनाथ विद्याभ्यासके लिये जाता था, उनके यहाँ उन दिनों श्रीचैतन्य-महाप्रभुके परम शिष्य श्रीहरिदासजी रहा करते थे। जैसे चुम्बक लोहेको खींचता है वैसे ही साधुओंमें भी लोगोंको अपनी ओर खींचनेकी शक्ति रहती है। उनकी दर्शनीय सौम्य आकृति, निर्मल भगवन्निष्ठा आदिने रघुनाथदासके हृदयमें भी घर कर लिया। उनके सत्संगसे हरिभक्तिकी एक पतली-सी धार उसके हृदयमें भी बह निकली।

उन्हीं दिनों खबर मिली कि श्रीचैतन्यदेव शान्तिपुर पधारे हुए हैं। श्रीचैतन्यदेवका नाम उस प्रान्तके घर-घरमें फैल चुका था और जबसे अपना सारा समय निश्चिन्त होकर भगवन्नामप्रचारमें लगानेके लिये अपनी करुणामयी वृद्धा माता और आज्ञाकारिणी अल्पवयस्का पत्नीतकको, जिनके एकमात्र यही अवलम्ब थे, भगवान्के भरोसे छोड़ ये संन्यासी हो गये तबसे तो इनके भगवत्प्रेमकी सच्चाईका प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर लोग इनकी ओर विशेषरूपसे आकृष्ट हो गये थे। जहाँ कहीं गौरांगदेव जाते, दर्शनार्थियोंकी भीड़ जमा हो जाती। इसीलिये ज्यों ही यह

समाचार मिला कि श्रीमहाप्रभु शान्तिपुरमें श्रीअद्वैताचार्यके यहाँ पधारे हुए हैं त्यों ही आसपासके भक्तोंका दिल खिल उठा।

रघुनाथ तो खबर पाते ही दर्शनके लिये छटपटा उठा। उसने शान्तिपुर जानेके लिये पितासे आज्ञा माँगी। पिताके लिये यह एक अनावश्यक-सा प्रस्ताव था; पर जब उन्होंने देखा कि रघुनाथके चेहरेपर बेचैनी दौड़ रही है तो उन्होंने उसे रोकना ठीक नहीं समझा और उसे एक राजकुमारकी भाँति बढ़िया पालकीमें बैठाकर, नौकर-चाकरोंके दलके साथ शान्तिपुर भेज दिया।

शान्तिपुरमें रघुनाथदास सीधा श्रीअद्वैताचार्यके घर पहुँचा। जाकर भेंटकी वस्तुओंके सहित गौरके चरणोंमें लोट-पोट हो गया। गौर इसे देखते ही ताड़ गये कि इसका भविष्य क्या है? फिर भी उन्होंने 'अनासक्तभावसे घर-गृहस्थीमें रहते हुए भी भगवत्प्राप्ति की जा सकती है' आदि उपदेश देकर आशीर्वाद-सहित घरके लिये वापस किया। रघुनाथ घर वापस आ रहा था; पर उसे यह ऐसा कठिन मालूम पड़ रहा था जैसा नदीमें प्रवाहके विपरीत तैरना। उसे ऐसा मालूम पड़ता था मानो नौकरलोग जबरदस्ती उसे घर लिये जा रहे हैं। उसका चित्त इसके लिये राजी नहीं होता था। उसकी आकृतिपर ऐसी बेबशी छायी हुई थी, मानो वह मन-ही-मन यह कह रहा हो कि यदि मेरे पाँख होती तो मैं फुर्रसे उड़कर पुनः श्रीगौरचरणोंमें जा पहुँचता।

खैर, किसी तरह हृदयकी उथल-पुथलके साथ वह घर आया और माता, पिता तथा ताऊके चरणोंमें प्रणाम किया; पर उन्होंने देखा कि उसके चेहरेका रंग ही बदला हुआ है। उन्होंने देखा मानो उसके चेहरेपर लिखा हुआ है कि 'रघुनाथको अब तुम

सबसे कोई सरोकार नहीं। वह तो अब किसी दूसरेका हो चुका।' परंतु इसपर उन सबने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया; हाँ, तब तो उन्हें ध्यान देना ही पड़ा। जब उन्होंने देखा कि रघुनाथदास दिन-दिन उदासीका पुतला बनता जा रहा है और पूछनेपर इसका कुछ कारण बतलाता नहीं। उन्हें यह निश्चय हो गया कि इसे कुछ दूसरी ही धुन लग गयी है और अब यह किसी तरह चुपचाप घरसे भाग निकलनेकी तरकीब सोच रहा है। घरवालोंको इसके लिये बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें यह भी पछतावा हुआ कि इसे गौरांगके पास क्यों जाने दिया। खैर, जो हुआ, सो हुआ, अब ऐसी गलती नहीं करनी चाहिये, ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपने लड़केपर चौकी-पहरा बैठा दिया। संसारमें सबसे अधिक आकर्षक वस्तु मानी गयी है स्त्री। बड़े-बड़े प्रबल पराक्रमी शूरवीर, विद्वान्, राजा-महाराजा और धनकुबेर इस स्त्रीके चरणोंपर अपना सर्वस्व निछावर करते देखे और सुने गये हैं। 'शायद विवाह हो जानेसे मेरे बेटेका चित्त स्थिर हो जाय'— इस खयालसे श्रीगोवर्धनदास मजूमदारने झटपट व्यवस्था करके एक अत्यन्त रूपवती बालिकाके साथ अपने पुत्रका विवाह कर दिया। परन्तु पीछे उनका खयाल गलत साबित हुआ। जो समस्त मानवीय बन्धनोंको तिनकेकी तरह तोड़नेकी सामर्थ्य लिये बैठा है, भला विवाहबन्धन उसे कैसे जकड़े रख सकता है? कामिनी और कंचन तो उन विषयीजनोंको ही फँसाये रख सकते हैं जो इन्हें संसारका सार पदार्थ माने बैठे हैं। परन्तु जिन महापुरुषोंको संसारमें कुछ सार पदार्थ दिखलायी ही नहीं पड़ता, उनका चित्त इसमें या इसके मोहक पदार्थोंमें कैसे रम सकता है? इसी तरह विवाह भी रघुनाथके लिये एक दैनिक जीवनकी नगण्य घटनासे अधिक महत्त्व न पा सका। वह बार-बार घरसे निकल भागनेका

प्रयत्न करता और पहरेदार पकड़कर लौटा लाते। धीरे-धीरे यह मामला इतना अधिक बढ़ा कि स्वजनोंकी सलाहसे माता-पिताने रघुनाथको पागलकी तरह रस्सीसे बँधवा दिया। परन्तु पीछे विवेकने समझाया कि बहुत कड़ा करके बाँधा हुआ बन्धन जब टूटता है तो बात-की-बातमें टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। इसपर रघुनाथको पागलकी तरह बाँधनेका पागलपन उन्होंने त्याग दिया। हाँ, नजरकी चौकसी उन्होंने पूर्ववत् जारी रखी।

उन दिनों उस देशमें गौरांगके बाद यदि किसी महापुरुषके नामकी धूम थी तो वह थी श्रीनित्यानन्दके नामकी। संन्यासी होकर अनेक देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करनेके बाद श्रीनित्यानन्द महाराज श्रीगौरांगके शरणापन्न हुए थे और उन्हींकी आज्ञासे वह गौड़प्रदेशमें हरिनामका प्रचार कर रहे थे। उन्होंने पानीहाटी ग्रामको हरिनामप्रचारका प्रधान केन्द्र बना रखा था। रघुनाथदासकी भी इच्छा यह आनन्द लूटनेकी हुई। पिताने भी रोक नहीं लगायी। उन्होंने भी अब 'रस्सा ढील' नीतिसे काम लेना आरम्भ कर दिया, यानी जैसे बिचले हुए घोड़ेकी रस्सीके सिर्फ छोरको मजबूतीसे पकड़े रहकर 'जायगा कहाँ? रस्सीका छोर तो हाथमें है' यह सोचकर रस्सीको बिलकुल ढीला करके जी-भरकर उछलने-कूदनेके लिये उसे स्वतन्त्र कर दिया जाता है, वैसे ही गोवर्धनदासने रघुनाथदासपर निगाह रखनेवालोंको तो और अधिक सावधानीके साथ काम करनेका आदेश कर दिया था; पर ऊपरसे स्पष्ट दिखलायी देनेवाला बन्धन हटा लिया था। इसीलिये बड़ी खुशीके साथ रघुनाथदासको पानीहाटी जानेकी अनुमति मिल गयी। अवश्य ही दस्तूरके मुताबिक उनके साथ 'सेवक' नामधारी पुलिसकी पलटन लगा दी गयी। रघुनाथदास पानीहाटी गये, श्रीनित्यानन्दके दर्शनसे अपने नेत्रोंको सुख

पहुँचाया और हरिनाम-संकीर्तनकी ध्वनिसे अपने कर्णविवरोंको पावन किया। यही नहीं श्रीनित्यानन्दकी दयासे इन्हें समवेत असंख्य वैष्णवजनोंको दही-चिउड़ेका महाप्रसाद चढ़ानेका भी सुअवसर प्राप्त हो गया। दूसरे दिन बहुत-सा दान-पुण्य करके श्रीनित्यानन्दजीसे आज्ञा लेकर घरको आ गये।

घर आ गये, पर शरीरसे, मनसे नहीं। इस कीर्तन-समारोहमें सम्मिलित होकर तो अब वह बिलकुल ही बेकाबू हो गये। इधर इन्होंने यह भी सुन रखा था कि गौड़-देशके सैकड़ों भक्त चातुर्मास्यभर श्रीचैतन्यचरणोंमें निवास करनेको नीलाचल जा रहे हैं, इसलिये स्वर्णसंयोगको वह किसी तरह हाथसे जाने देना नहीं चाहते थे। घरवालोंने देखनेमें लाख बन्धन ढीला कर दिया था; पर पहरेके अंदर भी नीलाचल जाने और वहाँ चार मास निरन्तर वास करनेकी अनुमति मिलनेकी आज्ञा बिलकुल नहीं थी। और मिल भी जाय तो इस तरह कबतक चल सकता था? प्रेमी और प्रेमास्पदके बीचमें तीसरेका निर्वाह कहाँ? इसलिये निहंगा लाडले बननेकी जरूरत थी और इसीकी उन्हें फिक्र थी। यह फिक्र तो उन्हें बहुत दिनोंसे थी, पर कोई कार्य तो तभी बनता है जब उसका संयोग होता है; और तीव्र महत्त्वाकांक्षा होनेपर भगवान् संयोग भी जुटा ही देते हैं, रघुनाथदास अबतक निकल भागनेके लिये न जाने कितने प्रयत्न कर चुके थे; पर वह एक बार भी कृतकार्य न हो सके। अब उनके सफल-मनोरथ होनेका समय आ गया था, इसलिये एक दिन भगवत्प्रेरित महामायाने एक साथ सारे-के-सारे ड्योढ़ीदारोंको निद्रामें डाल दिया और सबेरा होते-न-होते रघुनाथ महलकी चहारदीवारीसे निकलकर नौ-दो-ग्यारह हो गये।

इधर ज्यों ही मालूम हुआ कि रघुनाथ नहीं हैं तो सारे महलमें

सनसनी फैल गयी। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—सभी दिशाओंको आदमी दौड़ पड़े; पर वहाँ मिलनेको अब रघुनाथकी छाँह भी नहीं थी। आदमी कोस-कोस, दो-दो कोस जाकर कोई भी पता न पाकर वापस लौट आये। अनुमान किया गया कि कहीं पुरी न गया हो? गोवर्द्धनदासने भी कहा कि हो-न-हो वह पुरी ही गया होगा। रथयात्राका समय भी है। इसीलिये पुरीके रास्तेपर ही आदमी दौड़ाना ठीक होगा। अच्छा, शिवानन्द सेन, जिनकी संरक्षकतामें सैकड़ोंकी संख्यामें यात्रीलोग जाया करते हैं, बिलकुल अपने ही आदमी हैं, उन्हें पत्र लिखे देता हूँ। रघुनाथ यदि उन लोगोंके साथमें होगा तो, या तो वह उसे हाल-का हाल समझा-बुझाकर घर लौटा देंगे, नहीं तो पुरी जाकर अपने साथ वापस ले आयेंगे। क्या हर्ज है? अपने आदमी भी साथ ही बने रहेंगे।

इस प्रकार निश्चय करके उन्होंने एक चिट्ठीके साथ पाँच घुड़सवारोंको पुरीके रास्तेपर दौड़ा दिया; पर वहाँ रघुनाथदास कहाँ थे? भगवान्ने उन्हें यह बुद्धि दी कि आम सड़क होकर जाना ठीक नहीं। अनेक यात्रियोंसे भेंट होगी। पूछेंगे, कौन हो, कहाँसे आये? उन्हें क्या उत्तर दूँगा। बतलानेसे भेद खुलता है और उन यात्रियोंमें क्या मालूम कोई जान-पहचानका ही निकल आवे और मेरे लिये खुफिया पुलिसका कर्मचारी बन बैठे! सीधे ऊटपटांग जंगलके रास्तेसे जाना अच्छा है। इसलिये वह पगडंडीके रास्तेसे गये और रात होते-होते प्रायः ४८ कि०मी० पर जा विराजे। इधर यात्रियोंका संग लेनेके बाद गोवर्द्धनदासके आदमियोंको जब शिवानन्दसे मालूम हुआ कि रघुनाथ उनके साथ नहीं आये तो हताश होकर वे वापस लौट आये। सारी ढूँढ़-खोज व्यर्थ हुई। इसकी सूचना अश्वारोहियोंसे पाते ही सारे महलमें कुहराम मच गया। बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक सभीको इस

बातका बड़ा सन्ताप था कि रघुनाथके शरीरपर न तो आवश्यक वस्त्र हैं और न जेबमें पैसा। कहाँ जायगा और क्या खा-पीकर जिन्दा रहेगा। हित-मित्र—सभी आँसू बहाकर समवेदना प्रकट करते और समझाते कि सबका रक्षक एकमात्र ईश्वर है, इसलिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये; पर उन्हें ढाढ़स न होता।

खैर, अब शोकपर्वके इस अध्यायको यहीं समाप्त करके हम अपने अज्ञात पथके पथिक रघुनाथदासका पता लगाने निकलते हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि पहले ही दिन रघुनाथदासने ४८ कि०मी० का रास्ता तय कर डाला। पाठकवृन्द! जरा विचार करके देखिये, एक राजकुमार, जो कभी एक पग भी बिना सवारीके न चलता था, वह आज बड़े-बड़े विकट बटोहियोंके भी कान काट गया। धन्य है! लगन इसे कहते हैं। जब किसी चीजकी लगन होती है तब सारी बिखरी हुई शक्ति एक जगह केन्द्रीभूत होकर प्रकट हो पड़ती है। और लगन भी जब सारे संसारको तुच्छ मानकर एकमात्र भगवत्प्राप्तिकी हो तब उसे शक्तिका कैसे अभाव हो सकता है? अभाव तो तभीतक है जबतक मनुष्य उन शक्तिके निधानसे विमुख है। खैर, उत्कट वैरागी रघुनाथको प्रथम दिनकी यात्रा समाप्त करनेके बाद एक ग्वालेके घरमें बसेरा मिला और उसके दिये हुए थोड़े-से दूधपर बसर करके दूसरे दिन बिलकुल तड़के इन्होंने फिर कूच कर दिया और इस तरह लम्बी चलाई करके करीब एक महीनेका रास्ता इन्होंने कुल बारह दिनमें तय कर डाला और इन बारह दिनोंमें इन्होंने कुल तीन बार रसोई बनाकर अपने उदरकुण्डमें आहुति दी थी।

इस प्रकार प्रभुसेवित नीलाचलपुरीके दर्शन होते ही इन्होंने उसे नमस्कार किया और श्रीचरणोंकी ओर अग्रसर हुए। पुरीके प्रत्येक मकानके ईंट-ईंटमें इन्हें गौरांगके दर्शन होते थे। प्रत्येक

मनुष्यको देखते ही ऐसा मालूम पड़ता मानो महाप्रभु ही वेष परिवर्तन किये हुए हैं। वृक्षोंसे चिड़ियोंकी चहचहाहट सुनकर इनके कानोंको ऐसा प्रतीत होता मानो ये सब गौरांगकी ही गुण-गरिमाका गान कर रहे हैं। इनके हृदयमें न जाने क्या-क्या तरंगें उठ रही थीं। इसी प्रकार भावुकताके प्रवाहमें अलौकिक आनन्द लाभ करते हुए यह निश्चित स्थानके निकट जा पहुँचे। दूरसे ही इन्होंने देखा कि भक्तजनोंसे घिरे हुए चैतन्यदेव प्रमुख आसनपर विराजमान हैं और सबको कुछ उपदेश दान कर रहे हैं। सबकी दृष्टि उनके मुखमण्डलपर गड़ी हुई है। वह सुन्दर, सुडौल स्वर्णवर्णगात्र, विशाल विस्फारित नेत्र, गोल-गोल कपोल, स्वाभाविक लालीसे युक्त अधराधर, दमकता हुआ चौड़ा ललाट और सहज वैराग्य उत्पन्न करनेवाला गेरुआ वस्त्र! अद्‌भुत शोभा थी। भक्तोंकी घनी भीड़के अंदर गौरांगके मुखमण्डलको देखनेसे ऐसा मालूम पड़ता था मानो सघन मेघमालासे युक्त आकाशमें चन्द्रमा झाँक रहा हो। प्रसंगवश बीच-बीचमें जब कभी वह किंचित् मुसकरा देते तो ऐसा प्रतीत होता मानो सुधाका स्रोत बह निकला हो। इस प्रकार इस अलौकिक शोभासे युक्त मूर्तिका दर्शन करते ही रघुनाथका रोम-रोम खिल उठा। हर्षातिरेकसे उन्हें तन-बदनकी भी सुधि न रही। प्रभुके दर्शन वह एक बार और कर चुके थे; पर उस बारके दर्शनमें और इस बारके दर्शनमें अन्तर था। तब वह अंदरसे उनके होकर भी बाहरसे किसी औरके होकर गौरांगके पास आये थे; पर आज सोलहों आने उन्हींके होकर उनकी सेवामें आये हैं। अस्तु!

रघुनाथदास श्रीचरणोंके निकट पहुँच गये। सबसे पहले मुकुन्ददत्तकी निगाह उनपर पड़ी। देखते ही उन्होंने कहा—'अच्छा, रघुनाथदास, आ गये।' तुरंत ही गौरका भी ध्यान गया।

वह प्रसन्नतासे खिल उठे। 'अच्छा, वत्स रघुनाथ आ गये' कहकर उनका स्वागत किया और उनके प्रणाम करनेके बाद झटसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक उन्हें उठाकर गले लगाया। पास बैठाकर उनके सिरपर हाथ फेरना शुरू किया। रघुनाथको ऐसा मालूम पड़ा मानो उनकी रास्तेकी सारी थकावट हवा हो गयी। महाप्रभुकी करुणाशीलता देखकर उनकी आँखोंसे श्रद्धा और प्रेमके आँसू बरस पड़े। उन्हें भी गौरने निज करकमलोंसे ही पोंछा। इसके बाद रघुनाथके द्वारा अन्य भक्तमण्डलीका भी अभिवादन हो चुकनेपर गौरांगने सबको रघुनाथका परिचय कराया। बतलाया कि कैसे घरका लड़का है और किस रूपमें यहाँ उपस्थित है। उन्होंने कहा कि सोनेकी बेड़ी लोहेकी बेड़ीसे भी भयंकर होती है। संसारमें जो लक्ष्मीके पुत्र और भूपति कहलाते हैं और भाग्यवान् माने जाते हैं, वास्तवमें देखा जाय तो उनसे बढ़कर अभागे बिरले ही होंगे। रात-दिन विषय-भोगोंमें फँसे रहनेके कारण वे भगवान्से सर्वथा विमुख-से रहते हैं। यह तो उस करुणाके आकरकी ही महिमा है कि वह रघुनाथ-जैसे किसी-किसी व्यक्तिके अंदर तीव्र वैराग्य जाग्रत् कर उसे उस मायाके बन्धनसे मुक्त कर लेते हैं।

इसके अनन्तर चैतन्यदेवने स्वरूपदामोदरको अपने पास बुलाकर कहा कि 'देखो, मैं इस रघुनाथको तुम्हें सौंपता हूँ। खान-पानसे लेकर साधन-भजनतक सारी व्यवस्थाका भार तुम्हारे ऊपर है। भला!' 'बहुत अच्छा!' कहकर स्वरूपने प्रभुकी आज्ञा शिरोधार्य की और रघुनाथको अपनी कुटीमें ले गये। उनके समुद्र-स्नान करके वापस आनेपर उन्हें जगन्नाथजीका कई प्रकारका प्रसाद और महाप्रसाद लाकर दिया। रघुनाथने उसे बड़े प्रेमसे पाया। परन्तु जब उन्होंने देखा कि यह तो रोजका

सिलसिला है तब उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि रोज-रोज यह बढ़िया-बढ़िया माल खानेसे वैराग्य कैसे सधेगा? आखिर चार-पाँच दिनोंके बाद ही उन्होंने यह व्यवस्था बदल दी। 'मैं एक राजकुमारकी हैसियतका आदमी हूँ, इस प्रकारका रहा-सहा भाव भी भुलाकर वह साधारण भिक्षुककी भाँति जगन्नाथजीके सिंहद्वारपर खड़े होकर भिक्षावृत्ति करने लगे और बड़े आनन्दके साथ दिन व्यतीत करने लगे। परन्तु माया बड़ी ठगिनी है, जो इसे चाहता है उसकी आँखोंसे ओझल हुई रहती है और जो इसे त्यागता है उसके पीछे हाथ धोकर पड़ती है। हमारे सर्वस्वत्यागी रघुनाथदासके मार्गमें वह यहाँ भी आ खड़ी हुई। जब लोगोंको मालूम हुआ कि यह बहुत बड़े घरके लड़के होकर भी इस अवस्थामें आ गये हैं तो उन्हें अधिकाधिक परिमाणमें विविध प्रकारके पदार्थ देना आरम्भ कर दिया। आखिर घबड़ाकर रथुनाथदासको यह क्रम भी त्याग देना पड़ा। अब वह चुपचाप एक अन्नक्षेत्रमें जाते और वहाँसे रूखी-सूखी भीख ले आते। रघुनाथकी गतिविधि क्या-से-क्या हो रही है, श्रीगौरांगदेवको पूरा पता लगता रहता। उनके दिन-दिन बढ़ते हुए वैराग्यको देखकर उन्हें बड़ा सुख मिलता। श्रीगौरके पास दो वस्तुएँ थीं, जिन्हें वे अपनी अति प्रिय वस्तुएँ मानते थे—एक गोवर्द्धनशिला और दूसरी गुंजामाला। ये दोनों प्रिय पदार्थ श्रीशंकरानन्द सरस्वतीने वृन्दावनसे लाकर दिये थे, जिन्हें उन्होंने श्रीराधाकृष्णकी स्मृति जाग्रत् रखनेके चिह्नस्वरूप बड़े आदरके साथ अपने पास रख छोड़ा था। श्रीरघुनाथके प्रति उनका इतना अधिक अनुराग बढ़ा कि उन्होंने वे अपनी परम प्रिय वस्तुएँ भी उन्हें सौंप दीं। रघुनाथदासको ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह एक अलौकिक निधि पा गये हों। वह बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ

नियमपूर्वक दोनों वस्तुओंकी पूजा करने लगे। रघुनाथकी उत्कट जिज्ञासा देखकर श्रीमहाप्रभुने एक दिन उन्हें साधन-सम्बन्धी कुछ उपदेश दिया। कहा कि वैसे तो मैं तुम्हें स्वरूपजीको सौंप चुका हूँ—असलमें तुम्हारे गुरु वही हैं; पर उनकी और तुम्हारी जब दोनोंकी यह इच्छा है कि मैं ही कुछ कहूँ तो मैं तुम्हें सब शास्त्रोंका सार यह बतलाता हूँ कि 'श्रीकृष्णके नामका स्मरण और कीर्तन ही संसारमें कल्याण-प्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। पर इस साधनकी भी पात्रता प्राप्त करनेके साधन ये हैं कि निरन्तर साधुसंग करे, सांसारिक चर्चासे बचे, परनिन्दासे कोसों दूर रहे, स्वयं अमानी होकर दूसरोंका मान करे, किसीका दिल न दुखावे और दूसरेके दुखानेपर दुःखी न हो, आत्मप्रतिष्ठाको विष्ठावत् समझे, सरल और सच्चरित्र होकर जीवन व्यतीत करे, आदि।'

आओ, पाठक! अब जरा रघुनाथके बिलखते हुए परिवारकी भी सुध लें। पूरे चार महीने बाद जब गौड़-देशके भक्त लोग अपने-अपने स्थानोंको वापस पहुँचे तब श्रीशिवानन्दके पास आदमी भेजनेपर श्रीगोवर्द्धनदास मजूमदारको यह पता लगा कि उनका गृहत्यागी प्यारा पुत्र पुरीमें है और पेटकी ज्वाला शान्त करनेके अर्थ मुट्ठीभर अन्नके लिये दीन-हीन कंगालोंकी भाँति पहर-के-पहर सिंहद्वारपर खड़ा रहता है। माता-पिताका हृदय टूक-टूक हो गया। हाय! जो आज अपनी उदारताके कारण असंख्य जनोंके अन्नदाता बने हुए हैं उन्हींके बेटेकी यह दशा! पर छाती पीटकर बैठ रहनेके सिवा उपाय क्या है; जिसके अंदर ऐसा तीव्र वैराग्य है वह तो अब घर वापस आनेसे रहा। हाँ, एक उपाय जरूर है, पुत्र यदि मंजूर कर ले तो पुरीमें ही ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि वह राजकुमारकी तरह अपना जीवन व्यतीत कर सके। पर वह इस प्रस्तावको स्वीकार कर

लेगा ऐसी आशा करना भी भूल है। जो परमार्थ-पथका पथिक बना है, उसके लिये खाने-पीनेका महत्त्व ही कितना है।

इस प्रकार पूरा दिमाग लगाकर भी गोवर्द्धनदास कोई रास्ता न निकाल सके। पर मोह बड़ा विचित्र होता है। मनुष्यका विवेक कहता है कि यह नहीं होनेका; पर शायद हो जाय ऐसी शंका करके मोह अपनी बात माननेको मजबूर कर देता है। गोवर्द्धनदासको अपने पुत्रकी मनोवृत्तिका पूर्ण ज्ञान था, फिर भी पुत्र-स्नेहसे वह बिना कुछ किये नहीं रह सके। उन्होंने डरते-डरते चार सौ रुपये और कुछ अन्य आवश्यक सामग्री पुरीके लिये भेज ही दी।

गोवर्द्धनदासके आदमी सब सामान लेकर रघुनाथके पास पहुँचे, पर वह इसे लेकर क्या करे—यह उसके किस कामका। त्यागी हुई चीजका पुनः ग्रहण कैसा? पर वापस भी नहीं करते बनता है। ऐसा करनेसे मरेको मारना होता है। अपने लिये नहीं, पर दुःखी प्राणियोंके सन्तोषके लिये ही उन चीजोंको ले लिया जाय तो क्या हर्ज है? पर प्रश्न तो यह है कि उन सब चीजोंका आखिर हो क्या? जो जगन्नाथजीके सिंहद्वारपर भिक्षाको भी केवल इस कारण छोड़ देता है कि उसमें लोगोंने कुछ अच्छे-अच्छे पदार्थ बनाकर देना शुरू कर दिया था, वह इस परिग्रहको किसलिये करे? पर अपने वैराग्यमें भी कसर न आवे और दुःखी माता-पिताको भी सन्तोष हो जाय—ऐसा बीचका मार्ग निकल आवे तो अत्युत्तम हो। बहुत सोच-विचारके बाद रघुनाथने यह स्थिर किया कि इस द्रव्यको रख लिया जाय और गौरांगदेवकी सेवामें इसे खर्च किया जाय। उन्होंने रुपये तथा सामान लेकर नौकरोंको वापस कर दिया और महीनेमें दो बार श्रीगौरचरणोंका निमन्त्रण करनेकी व्यवस्था की। महाप्रभु उनके

सन्तोषार्थ उनकी कुटीमें प्रसादके अर्थ पधारते; पर इसमें खर्च ही कितना था? उन दिनों सब सामान कौड़ी मोल बिकता था, इसलिये श्रीगौरके निमन्त्रणमें महीनेमें मुश्किलसे आठ आने खर्च होते होंगे और यह सिलसिला भी आगे चलकर टूट गया। रघुनाथके मनमें आया कि न जाने कैसे-कैसे इकट्ठा किया हुआ पैसा है; यह श्रीप्रभुचरणोंकी सेवाके योग्य नहीं है। उनके मुखमें तो पवित्र-से-पवित्र कमाईका अन्न जाना चाहिये। बस, ऐसा विचार मनमें आते ही उन्होंने वह व्यवस्था तोड़ दी। गौरको जब इसका रहस्य मालूम हुआ तो उन्हें भी इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तो केवल रघुनाथके सन्तोषके लिये उनका प्रस्ताव स्वीकार किया था।

सारे अनर्थकी जड़ मन बतलाया जाता है, निश्चय ही वह है भी ऐसा ही। ऐसा क्यों है? है इसलिये कि वह स्वतन्त्र बन बैठा है—किसीका उसपर नियन्त्रण नहीं रहा है और स्वच्छन्दता प्राप्त होनेपर कोई कौन-सा अनर्थ नहीं कर सकता। मनका दोष नहीं है—सारा दोष है मनके मालिकका। मालिक यदि इसको अपने वशमें कर ले तो फिर यह उसके इशारेपर नाचने लगे। मनका काम है किसी-न-किसी धुनमें लगे रहना। जो मन आज विषय-भोगोंमें फँसा हुआ है उसे वशमें करके परमार्थमें लगाना होगा और जब वह लग जायगा तो ऐसा लगेगा कि विषयोंकी ओर ताकनातक नहीं चाहेगा। कठिनाई तभीतक है जबतक मनरूपी नाव भँवर-जालमें पड़ी हुई है; जहाँ उससे निकालकर उसे भगवदभिमुखी प्रवाहकी ओर किया फिर तो वह ऐसी सरपट दौड़ेगी जिसका नाम रघुनाथदास इच्छा और अनिच्छासे जबतक राजकुमार थे तबतक थे, अब वह वैरागी बन गये हैं, इसलिये उनका वैराग्य भी दिन-दिन बड़े वेगसे बढ़ता जाता है।

पहले वह अन्नक्षेत्रमें जाकर भिक्षा ले आते थे, पर अब उन्होंने यह भी बंद कर दिया। कारण, भण्डारीको जैसे ही इनके वंश आदिका परिचय मिला, उसने भिक्षामें विशेषता कर दी। इसलिये इन्हें इस व्यवस्थाको भी त्यागकर नयी व्यवस्था करनी पड़ी। इसमें पूर्ण स्वाधीनता थी। जगन्नाथजीमें दूकानोंपर भगवान्का प्रसाद भात, दाल आदि बिकता है। यह प्रसाद बिकनेसे बचते-बचते कई-कई दिनका हो जानेसे सड़ भी जाता है। सड़ जानेसे जब यह बिक्रीके कामका भी नहीं रहता, तब सड़कपर फेंक दिया जाता है, जिसे गौएँ आकर खा जाती हैं। रघुनाथदासको इस जीविकामें निर्द्वन्द्वता मालूम हुई। वह उसी फेंके हुए प्रसादोंमेंसे थोड़ा-सा बटोरकर ले आते और उसमें बहुत-सा जल डालकर उसे धोते और उसमेंसे कुछ साफ-से खानेलायक चावल निकाल लेते और नमक मिलाकर उसीसे अपने पेटकी ज्वाला शान्त करते। एक दिन स्वरूप गोस्वामीने इन्हें इस भातको खाते हुए देख लिया। वह हँसकर बोले—'क्यों रघुनाथ! अकेले-ही-अकेले! किसीको पूछते भी नहीं। एक दिन मुझे भी इस प्रसादका स्वाद लेनेका मौका देते?'

स्वरूप गोस्वामी तो इतना ही कहकर रह गये; पर जब गौरांगदेवको इनकी इस प्रसादीका पता लगा तो वह एक दिन सायंकालको दबे पाँव रघुनाथके पास पहुँचे। ज्यों ही उन्होंने देखा कि रघुनाथ प्रसाद पा रहे हैं तो जरा और भी दुबक गये, इसी तरह खड़े रहे, फिर एकाएक बंदरकी तरह झपटकर छापा मारा। झटसे एक मुट्ठी भरके 'वाह बच्चू! मेरा निमन्त्रण बंद करके अब अकेले-ही-अकेले यह सब माल उड़ाया करते हो?' कहते हुए मुखमें पहुँचाया। ध्यान जाते ही 'वाह प्रभो! यह क्या? इस पापसे मेरा निस्तार कैसे होगा।' कहकर झटसे रघुनाथने दोनों हाथोंसे

पतली उठा ली जिससे महाप्रभु पुनः ऐसा न कर सकें। लज्जा और संकोचसे उनका चेहरा मुर्झा गया और नेत्रोंमें जल-बिन्दु झलक आये। महाप्रभु मुँहमें दिये हुए कौरको मुराते-मुराते रघुनाथकी ओर करुणाभरी दृष्टिसे निहारते पुनः हाथ मारनेको लपके और रघुनाथ 'हे प्रभो! अब तो क्षमा कीजिये' कहते हुए पतली लेकर भागे। तबतक यह सब हल्ला-गुल्ला सुनकर स्वरूप गोस्वामी भी आ पहुँचे और यह देखकर कि श्रीगौर जबरदस्ती रघुनाथका उच्छिष्ट खानेका प्रयत्न कर रहे हैं, उनसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'प्रभो! दया करके यह सब मत कीजिये, इसमें दूसरेका जन्म-कर्म बिगड़ता है।'

चैतन्यदेवने मुखमें दिये हुए ग्रासको चबाते-चबाते ही कहा—'स्वरूप! तुमसे सच कहता हूँ, ऐसा सुस्वादु अन्न मैंने आजतक नहीं पाया।'

इसी प्रकार श्रीगौरांगदेवकी कृपादृष्टिसे प्रोत्साहित होते रहकर रघुनाथने वहीं पुरीमें रहकर सोलह वर्ष व्यतीत कर दिये। श्रीचैतन्य जब अहर्निश प्रेमोन्मादमें रहने लगे। तब उनकी देह-रक्षाके लिये वह सदा उनके साथ ही रहने लगे। वह उनकी बड़ी श्रद्धाके साथ सेवा करते और उनके मुखसे निकले हुए वचनामृतका पान करते। आगे चलकर श्रीगौरका तिरोभाव हो गया जिससे रघुनाथके शोकका पार न रहा और प्रभुके बाद जब श्रीस्वरूप भी विदा हो गये, तब तो उनका पुरीवास ही छूट गया। वह वृन्दावन चले गये; इसके बाद वह वृन्दावनमें श्रीराधाकुण्डके किनारे डेरा डालकर कठोर साधनमें लग गये। वह केवल छाछ पीकर जीवन-यापन करते। रातको सिर्फ घंटे-डेढ़-घंटे सोते, शेष सारा समय भजनमें व्यतीत करते। प्रतिदिन एक लाख नाम-जपका उनका नियम था। श्रीचैतन्यचरितामृतकारका कहना है कि

रघुनाथदासके गुण अनन्त थे, जिनका हिसाब कोई नहीं लगा सकता। उनके नियम क्या थे, पत्थरकी लीक थे। चार ही घड़ीमें उनका खाना, पीना, सोना आदि सब कुछ हो जाता था—शेष सारा समय साधनामें व्यतीत होता था। वैराग्यकी तो वह मूर्ति थे। जीभसे स्वाद लेना तो वह जानते ही नहीं थे। वस्त्र भी फटे-पुराने केवल लज्जा और शीतसे रक्षा करनेके लिये रखते थे। प्रभुकी आज्ञाको ही भगवदाज्ञा समझकर चलते थे।

इनका संस्कृत-भाषाका ज्ञान भी बहुत अच्छा था। वृन्दावनमें रहते समय इन्होंने संस्कृतमें कई ग्रन्थ भी बनाये थे। श्रीचैतन्यचरितामृतके लेखक श्रीकृष्णदास कविराजके ये दीक्षागुरु थे। अपने ग्रन्थके लिये बहुत कुछ मसाला उन्हें इन्हीं महापुरुषसे प्राप्त हुआ था। पचासी वर्षतक पूर्ण वैराग्यमय जीवन बिताकर भगवद्भजन करते हुए अन्तमें आप भगवच्चरणोंमें जा विराजे।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!